

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्

नवदेहली

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला

का[illegible]शायनी

द्राक्षारसमयी [illegible]ति[illegible]मुक्तककाव्यरचना

र[illegible]ि[illegible]ना

डा० [illegible]जनन्द [illegible] पाठकः





Rashtriya Sanskrit Sansthan

(Under the auspices of the Ministry of Education and Social Welfare, Govt. of India)

Delhi

Ganganatha Jha
Kendriya Sanskrit Vidyapitha
TEXT SERIES

●

General Editor
Dr. G. C. Tripathi

●

No. 9

KĀPIŚĀYANĪ

[A collection of miscelleneous Sanskrit compositions of a modern poet]

by

JAGANNATHA PATHAK



ALLAHABAD
1980

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(केन्द्रीयशिक्षामन्त्रालयस्याङ्गभूतम्)
दिल्ली

—•—

गंगानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठग्रन्थमाला
प्रधानसम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

—•—

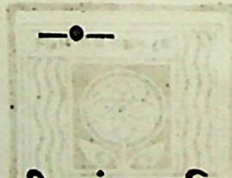
नवमं प्रसूनम्

कापिशायनी

नूतनकाव्यमधुपरिपाकः

रचयिता

जगन्नाथ पाठकः



—•—

गंगानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
मोतीलाल नेहरू पार्क
प्रयागः—२

कापिशायनी

द्राक्षारसमयी नूतनमुक्तककाव्यरचना

रचयिता
डा० जगन्नाथ पाठकः



गंगानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
मोतीलाल नेहरू पार्क
प्रयागः-२

१९८०

प्रकाशकः
डा० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्यः
गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
मोतीलाल नेहरू पार्क
इलाहाबाद–२

मूल्यम्

मुद्रकः
अरविन्द प्रिन्टर्स
२०-डी, वेली रोड
इलाहाबाद



चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि ।
मदमेव बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते ॥

कापिशायनी

मम चित्तनदीतटे यदा त्वमुपेतास्यवगाहनाय रे।
प्रणयः कमलं तदा स्वतः स्फुटतामाप सह स्मितेन ते ।।

त्वमितो मधुवाहिनीव मे सततं चेतसि संवहस्यहो।
धिगिमां मम सन्ततां तृषं ननु या हन्त न शाम्यति क्षणम् ।।

विकलं समवेक्ष्य मां भृशं रहसीदं हृदयं न्यवेदयत्।
यमवेक्षितुमीहसे वहिः स तु मय्येव निमील्य तिष्ठति ।।

अतितीव्रतमा न वेद्म्यहं क्व पिपासा मम शान्तिमेष्यति।
अपि नाम भुवि स्फुरन्त्यमी कति नद्यो न सरांसि वा कति ।।

FOREWORD

It is a fact of common knowledge that the character and overall nature of literature written in a particular language is deeply influenced by the cultural milieu of the time and the country in which that language is spoken. Even when the language transcends the barriers of the temporal and geographical limits, the cultural environment of the time and space in which it was first spoken reflects 'into the literature. The Persian poetry written in India largely uses the Persian imagery, makes use of the Persian flora and fauna and 'breathes with the spirit of the period when Persian language was first imported into India. Likewise, English poetry written anywhere within the boundaries of Commonwealth frequently makes use of expressions, imagery and similies derived from the European way of life.

Similar is the case with Sanskrit literature to-day, perhaps even more so, I would say, since Sanskrit has, to a great extent, remained within its orginal geographical limits and has retained and percolated itself down to the modern times. Consequently, most of the Sanskrit literature produced to-day still bears an outdated character and mostly deals with the subjects like prayers (स्तुति), personal praises and other mythological and religious themes.

Though there is no denying to the fact that there are happy exceptions to the above too and a number of Sanskrit poets exhibit a welcome awareness to the current and contemporary social problems and political events, yet the greater part of the Sanskrit poetry still lies fettered in the shackles of antique ideas and expressions borrowed from a cultural milieu which has long since faded away.

For those craving to have something refreshingly new, this collection of shorter and longer poems as well as of stray verses of Dr. J. Pathak shall be an exhilerating experience. The poet, though fully embedded in and accepting the tradition, of which he is an integral part, is not only liberal and

receptive of the influence of other cultures as well as of modern age but also happily blends them with those of his own thus creating an invigorating literary experience and a sublime aesthetic pleasure.

His Kāpiśāyanī is obviously inspired by Omar Khayyam. One may even discern at places imagery and ideas found typically in the Persian and Urdu poetry. Yet in its overall nature and character, it remains surprisingly Indian. The thirst for wine of the poet is his quest for God, the bar maiden is none else than fhe spiritual preceptōr, the wine is the philosophical knowledge or devotion imparted or generated by him and the resultant intoxication is the intoxication of love towards Him, the Almighty. It is in the fitness of the things and the theory that the bar-maiden herself is sometimes identified with the ultimate goal and the aspirant tries to first seek her favour (cf. गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः). The poem is thus an allegory where the direct has been described through the indirect (अप्रस्तुत).

Kāpiśāyanī is not a Khaṇḍakāvya but a Muktaka where every stanza has got it own independent existence. The stanzas when read together may not seem to be consistant with each other nor do they follow a single line of thought. But this is intentional. Each stanza depicts a momentary idea, a flash of transitory thought which emerges like a streak of lightning in the sky or like a surf in the ocean, to disappear quickly in its origin. Yavanikā, however, has a slightly different character. Since the verses there bear upon one single theme, namely glorification of love in its mundane and transcedental aspect, they are not only coherent but also in perfect harmony with each other.

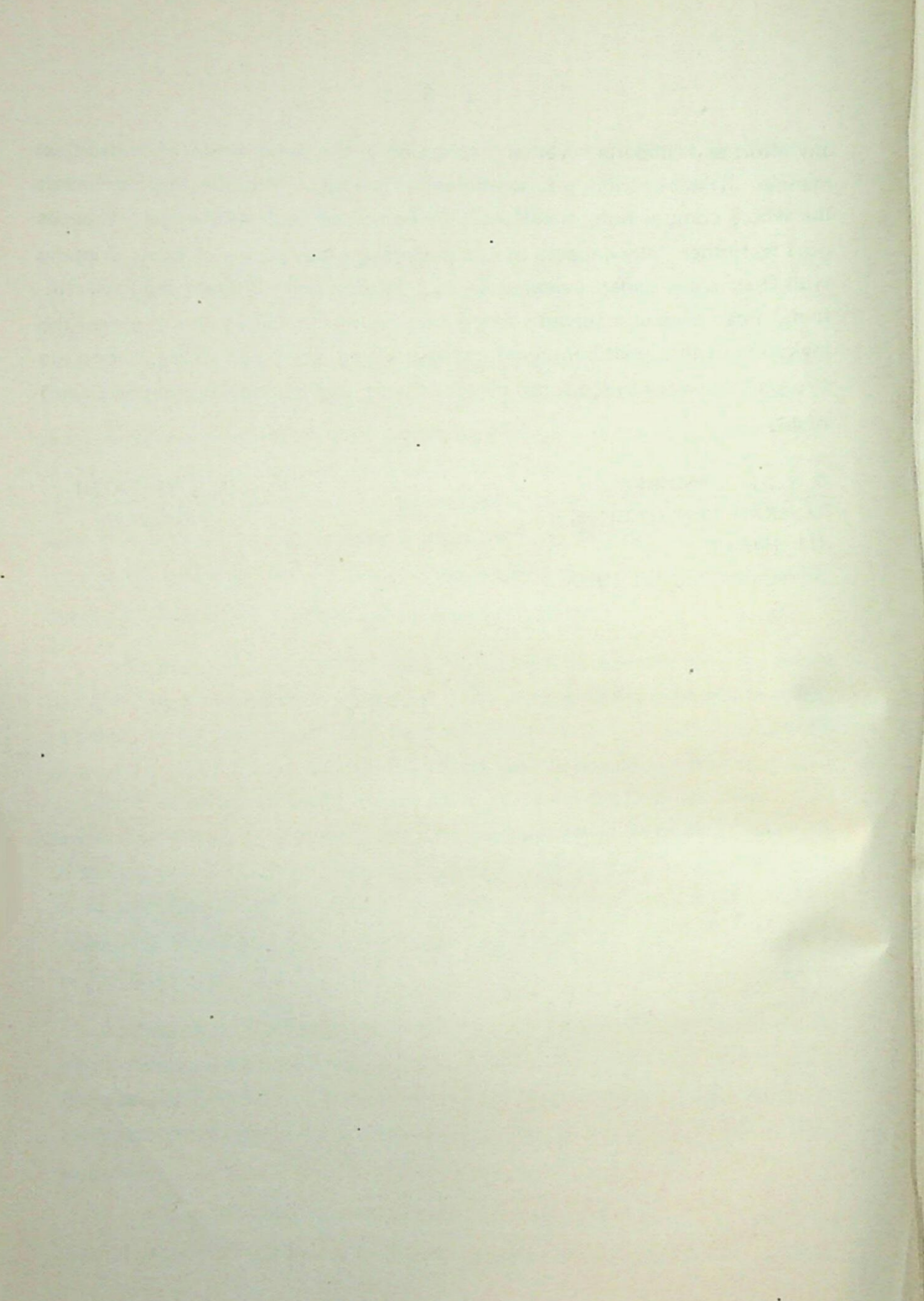
The lover of traditional Sanskrit poetry too shall have no reason to return thirsty and disappointed from the mel-bourn ('मध्वः उत्सः' RV I. 154. 5) that the Kāpiśāyanī is. The miscellenea in the section प्रकीर्णकम् as well as समस्यापूर्तयः and प्रशस्तयः have enough Kāpiśāyana to feed, nourish and enrapture him.

The basic quality of the poetry of Dr. Pathak is, to my mind, its clarity, simplicity and its naturalness. He seems to create poetry without

any effort and imparts it verbal expression in the same facile and effortless manner. It is beautiful, it is serene and it is noble. Prasāda thus dominates the whole composition, most blissfully combined with Mādhurya. That the poet is, further, fully capable of composing vigorous pieces of poety dripping with Ojas is put under evidence by him in the poem Bhārataśārdūlavikrīditam. I can thus unreservedly recommend to the connoisseurs to accept the invitation of the poet contained in the opening verse and to feast upon the this pot of honey in the form of mellifluous and immaculate (nirmakṣikam) poetry.

G N. JHA KENDRIYA
SANSKRIT VIDYAPEETHA
ALLAHABAD
September the 8th, 1980

G. C. TRIPATHI
PRINCIPAL



दो शब्द

सुहृद्वर डा० जगन्नाथ पाठक की विलक्षण कृति "कापिशायनी" अपने कुछ अंशों के रूप में ही सही, प्रकाश में आ रही है, यह बात अपने आप में कम महत्त्व की नहीं है। मेरे लिए तो यह मेरी एक बहुत बड़ी अभिलाषा की पूर्ति है। उसके विषय में 'दो शब्द' लिखना मैं गौरव की बात मानता हूं।

"कापिशायनी" के पद्य मुक्तक हैं, जिनको हम लोगों ने "चषक" की संज्ञा दे रखी है। इन चषकों की रचना का समारम्भ "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" के छात्र-जीवन से ही हो गया था। हम लोग उन्हीं दिनों पाठक जी से चषकों के मधु का पान कर मद-विह्वल हो जाया करते थे और नये चषक की प्रतीक्षा में सदा आतुर रहते थे। तब से लेकर अन्यान्य कृतियों का संग्रथन एवं सम्पादन करते हुए भी डा० पाठक चषकों की रचना निरन्तर करते रहे। इसके परिणाम स्वरूप सम्प्रति लगभग डेढ़ सहस्र पद्यचषक रच गए हैं। यह संस्कृत साहित्य की एक बहुत बड़ी थाती है, जिसके प्रकाशन की व्यवस्था अब जाकर हुई है।

कापिशायनी के चषक आधुनिक उर्दू के शेरों की सी मधुर भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति में बहुत पटु हैं। ये भाव-विशेष का मनोहर संकेतमात्र करते हैं जो सहृदय की हृत्कलिका को अनायास उन्मीलित कर देते हैं। इस सम्बन्ध में एक चषक प्रस्तुत है, जिसमें मधुपान-गृह की वरांगनाओं के द्वारा उसी को मधुपान कराये जाने का उल्लेख है, जो उनके नेत्रों की भाषा को भी पढ़ लेता है—

मधुपानगृहस्य योषितां पृथगेव व्यवतिष्ठते क्रमः।
मधु तं परिपाययन्ति यो नयनानामपि वेद भाषितम्॥

ये चषक प्रायः प्रिया के प्रति निवेदित हैं, जिनमें कहीं कोई उससे आग्रह है तो कहीं उपालम्भ या शिकायत। कहीं उसके पास पहुंचने की झिझक प्रकट होती है तो कहीं उसके साथ अद्वैत-भाव की अभिव्यक्ति। मधुपायी कभी मधुपान की आशा से ही समुल्लसित है तो कभी निराश होकर अपने भाग्य को कोसता है। यहाँ यह प्रश्न यह उठता है मधु क्या है, कवि ने किस

मधु का निरूपण इस कापिशायनी में किया है। जहाँ तक मैं समझता हूं, सौन्दर्य ही वह मधु है, जिसकी अनुभूति नाना स्वरूपों में होती है तथा उसी अनुभूति से अनुप्राणित होकर उसको पुनः पाने के लिए जो ललक है उसकी अभिव्यक्ति इन चषकों में सुतरां हुई है। अपने उक्त कथन की पुष्टि के लिए निम्न चषक उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूं। कवि कहता है कि इस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के चषक पान किये, किन्तु नशा नहीं आया। कभी एक बार तुम्हारी मधुर मुस्कान का एक क्षण के लिए ही आस्वाद मिला था, जिसका नशा अभी भी बना हुआ है—

चषका इह जीवने मया परिपीता अपि घूर्णिता अपि।
मदमेव बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते॥

सौन्दर्य रूपी यह मधु आंशिक रूप से यदा-कदा प्राप्त कर भी पूर्ण तृप्ति नहीं होती। अतः पूर्ण मधुपान की कामना लिए हुए कवि कहता है—

अमृताय कियन्नु कांक्षितं यदि पूर्णं मधु काचिदर्पयेत्।
अमृतं मधुरं हि केवलं मधुरोन्मादकलक्षणं मधु॥

यहाँ अमृत की सौन्दर्य से तुलना करते हुए उभयत्र माधुर्य-साम्य होने पर भी मधु में उन्मादकता का व्यतिरेक चषक में कसक पैदा कर देता है। एक अन्य चित्र है, मधुपायी इस लालसा से प्रियतमा के पास आता है कि उसे सौन्दर्य-मधु की कोई न कोई झलक मिल ही जायगी पर पुनः आने की बात को सुनकर वह अधीर हो उपालम्भ करता है—

चषकं परिपूरयिष्यसि स्पृहयेत्येव समागतः प्रिये।
पुनरागमनाय यद् वदस्यधुना यामि नयामि न स्पृहाम्॥

यहाँ "यामि नयामि" की छटा कम आकर्षक नहीं है। कवि सौन्दर्य-दर्शन की अभिव्यक्ति में भी कम माहिर नहीं है। विद्वान लोग सौन्दर्य की विषयिता और विषयता पर विवाद करते रहे हैं तथा अपने-अपने पक्ष के समर्थन में ग्रन्थों की सृष्टि करते रहे हैं पर कवि तो सौन्दर्यानुभूति को अद्वैतभाव से प्रस्फुरित मानते हुए ही रूप की स्वतन्त्रता का निराकरण अनुपयुक्त ठहराता है। चषक प्रस्तुत है—

तव वा मम वाऽस्ति जीवने नहि काचित् परमार्थतो भिदा।
अयि रूपिणि! रूपमेव ते कुरुते दर्शकदृश्यभावनाम्॥

हम-तुम चेतन होने से अभिन्न हैं, पर तुम्हारा रूप अचेतन होने से हमसे पृथक् है, जिसे केवल हमारे मनःसंवलित चक्षु ही देख पाते हैं और हममें कृत्रिम दृश्य-दर्शकभावरूप भेद खड़ा हो जाता है।

अन्यत्र कवि कहता है कि हृदय में हृदय और मन में मन के मिलन से हमारा जीवन एक हो गया है। मैं उस व्यक्ति को क्या कहूं जो इतने पर भी हममें भेद समझता है—

हृदयं हृदये मनो मनस्यपि संगत्य तदेकतां गतम्।
अधुना तमुपालभे जनं त्वयि यो मय्यपि भेदमिच्छति ॥७॥

कापिशायनी के सभी चषक मधु-आप्लावित ही नहीं हैं, अपितु इनसे कभी-कभी वेदना और निराशा भी छलक उठते हैं और किसी कटु अनुभूति की मार्मिक अभिव्यंजना हो जाती है। अधोलिखित चषक इस दृष्टि से उदाहरणीय हैं—

जलमध्यगता महोर्मयो मम नावं तटभूमिमानयन्।
तटभूमिगता लघूर्मयो मम नावं शनकैर्न्यमज्जयन् ॥३॥
निहतोऽहमिहाशयाऽप्यहो नहि नैराश्यहतोऽस्मि केवलम्।
सुमनोभिरपि क्षतोऽस्म्यहं नहि रे केवलकण्टकक्षतः ॥३७॥

वस्तुतः कापिशायनी के चषकों की विशद व्याख्या अपेक्षित है तथा इनमें अभिव्यक्त भावों को उजागर करते हुए उनका सम्यक् रूप से अवगाहन होना चाहिए। मैंने कभी कुछ चषकों को यथामति व्याख्यायित किया था, जिनसे प्रभावित होकर कविवर पाठक जी ने इनकी व्याख्या लिखने का आग्रह किया था, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार तो कर लिया, पर अभी तक कर नहीं पाया। समय मिलते ही अपना संकल्प पूरा करूँगा। मैं समझ रहा हूं कि इस महनीय कृति की भूमिका जितनी महनीय होनी चाहिए थी, शीघ्रतावश उतनी हो नहीं पायी है तथापि इसके प्रति जो मेरी भावना है उसकी बीज रूप में ही अभिव्यक्ति हुई है।

मुनि भरत ने शृंगार को लोक में जो कुछ भी दर्शनीय, मेध्य एवं उज्ज्वल है उसका भी उपमान माना है—

"लोके यत्किञ्चिन्मेध्यं दर्शनीयमुज्ज्वलं तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते।"

नाट्यशास्त्र की यह उक्ति शृंगार को बहुत ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित करती है तथा उनकी व्यापकता की ओर भी संकेत करती है। मेरी धारणा है कि नाट्यशास्त्र में निरूपित शृंगार मानव

मधु का निरूपण इस कापिशायनी में किया है। जहाँ तक मैं समझता हूं, सौन्दर्य ही वह मधु है, जिसकी अनुभूति नाना स्वरूपों में होती है तथा उसी अनुभूति से अनुप्राणित होकर उसको पुनः पाने के लिए जो ललक है उसकी अभिव्यक्ति इन चषकों में सुतरां हुई है। अपने उक्त कथन की पुष्टि के लिए निम्न चषक उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूं। कवि कहता है कि इस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के चषक पान किये, किन्तु नशा नहीं आया। कभी एक बार तुम्हारी मधुर मुस्कान का एक क्षण के लिए ही आस्वाद मिला था, जिसका नशा अभी भी बना हुआ है—

चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि।
मदमेव बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते ॥

सौन्दर्य रूपी यह मधु आंशिक रूप से यदा-कदा प्राप्त कर भी पूर्ण तृप्ति नहीं होती। अतः पूर्ण मधुपान की कामना लिए हुए कवि कहता है—

अमृताय कियन्नु कांक्षितं यदि पूर्णं मधु काचिदर्पयेत्।
अमृतं मधुरं हि केवलं मधुरोन्मादकलक्षणं मधु ॥

यहाँ अमृत की सौन्दर्य से तुलना करते हुए उभयत्र माधुर्य-साम्य होने पर भी मधु में उन्मादकता का व्यतिरेक चषक में कसक पैदा कर देता है। एक अन्य चित्र है, मधुपायी इस लालसा से प्रियतमा के पास आता है कि उसे सौन्दर्य-मधु की कोई न कोई झलक मिल ही जायगी पर पुनः आने की बात को सुनकर वह अधीर हो उपालम्भ करता है—

चषकं परिपूरयिष्यसि स्पृहयेत्येव समागतः प्रिये।
पुनरागमनाय यद् वदस्यधुना यामि नयामि न स्पृहाम् ॥

यहाँ "यामि नयामि" की छटा कम आकर्षक नहीं है। कवि सौन्दर्य-दर्शन की अभिव्यक्ति में भी कम माहिर नहीं है। विद्वान लोग सौन्दर्य की विषयिता और विषयता पर विवाद करते रहे हैं तथा अपने-अपने पक्ष के समर्थन में ग्रन्थों की सृष्टि करते रहे हैं पर कवि तो सौन्दर्यानुभूति को अद्वैतभाव से प्रस्फुरित मानते हुए ही रूप की स्वतन्त्रता का निराकरण अनुपयुक्त ठहराता है। चषक प्रस्तुत है—

तव वा मम वाऽस्ति जीवने नहि काचित् परमार्थतो भिदा।
अयि रूपिणि! रूपमेव ते कुरुते दर्शकदृश्यभावनाम् ॥

हम-तुम चेतन होने से अभिन्न हैं, पर तुम्हारा रूप अचेतन होने से हमसे पृथक् है, जिसे केवल हमारे मनःसंवलित चक्षु ही देख पाते हैं और हममें कृत्रिम दृश्य-दर्शकभावरूप भेद खड़ा हो जाता है।

अन्यत्र कवि कहता है कि हृदय में हृदय और मन में मन के मिलन से हमारा जीवन एक हो गया है। मैं उस व्यक्ति को क्या कहूं जो इतने पर भी हममें भेद समझता है—

हृदयं हृदये मनो मनस्यपि संगत्य तदेकतां गतम्।
अधुना तनुपालभे जनं त्वयि यो मय्यपि भेदमिच्छति ॥७॥

कापिशायनी के सभी चषक मधु-आप्लावित ही नहीं हैं, अपितु इनसे कभी-कभी वेदना और निराशा भी छलक उठते हैं और किसी कटु अनुभूति की मार्मिक अभिव्यंजना हो जाती है। अधोलिखित चषक इस दृष्टि से उदाहरणीय हैं—

जलमध्यगता महोर्मयो मम नावं तटभूमिमानयन्।
तटभूमिगता लघूर्मयो मम नावं शनकैर्न्यमज्जयन् ॥३॥
निहतोऽहमिहाशयाऽप्यहो नहि नैराश्यहतोऽस्मि केवलम्।
सुमनोभिरपि क्षतोऽस्म्यहं नहि रे केवलकण्टकक्षतः ॥३७॥

वस्तुतः कापिशायनी के चषकों की विशद व्याख्या अपेक्षित है तथा इनमें अभिव्यक्त भावों को उजागर करते हुए उनका सम्यक् रूप से अवगाहन होना चाहिए। मैंने कभी कुछ चषकों को यथामति व्याख्यायित किया था, जिनसे प्रभावित होकर कविवर पाठक जी ने इनकी व्याख्या लिखने का आग्रह किया था, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार तो कर लिया, पर अभी तक कर नहीं पाया। समय मिलते ही अपना संकल्प पूरा करूँगा। मैं समझ रहा हूं कि इस महनीय कृति की भूमिका जितनी महनीय होनी चाहिए थी, शीघ्रतावश उतनी हो नहीं पायी है तथापि इसके प्रति जो मेरी भावना है उसकी बीज रूप में ही अभिव्यक्ति हुई है।

मुनि भरत ने शृंगार को लोक में जो कुछ भी दर्शनीय, मेध्य एवं उज्ज्वल है उसका भी उपमान माना है—

"लोके यत्किञ्चिन्मेध्यं दर्शनीयमुज्ज्वलं तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते।"

नाट्यशास्त्र की यह उक्ति शृंगार को बहुत ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित करती है तथा उनकी व्यापकता की ओर भी संकेत करती है। मेरी धारणा है कि नाट्यशास्त्र में निरूपित शृंगार मानव

की अतिव्यापक सौन्दर्य-चेतना का पर्याय है। इसमें सौन्दर्याधायक अन्य तत्त्वों का समावेश है। चरकसंहिता में सौन्दर्य के आधायक चार तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। वे हैं—वय, अवस्था, रूप, वचः (बोली) तथा हाव, सहज आंगिक अभिव्यक्तियाँ, अर्थात् विलास। इन चारों से व्यस्त अथवा समस्त उभय रूप में जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है उसकी परिणति ही शृंगार है—

"वयोरूपवचोहावैर्या यस्य प्रियमङ्गना।
प्रविशत्याशु हृदयम्।"

कापिशायनी के चषकों का धरातल प्रणय है, जिनमें उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इस सन्दर्भ में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कापिशायनी के चषकों में अभिव्यक्त वस्तु सर्वथा अपूर्व हैं, जो अपूर्ववस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा रूप नवनवोन्मेषशालिनी कवि-प्रतिभा के द्योतक हैं। आज संस्कृत में काव्य की जो धारा प्रचलित है उसमें से बहुतांश गतानुगतिकता से रहित नहीं है। अत एव शिक्षित अथवा साहित्यकारों की यह धारणा प्रायः सही ही है कि संस्कृत की आधुनिक कविता मृतप्राय है। डा० पाठक की कापिशायनी को पाकर साहित्यिक समाज को अपनी उस धारणा में संशोधन करना पड़ेगा---ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

डा० पाठक हृदय के व्यक्ति तो हैं ही, स्वभाव के भी इतने सरल कि क्या कहा जाय। उनका मन सर्वथा बच्चों जैसा भोला है। ऐसे निर्मल अन्तःकरण में काव्य मधु ग्रहण की क्षमता कितनी विकट है, इसका अनुमान कापिशायनी के पद्यों से सुतरां लगाया जा सकता है। कापिशायनी के प्रकाशन के लिए गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग के प्राचार्य डा० गयाचरण त्रिपाठी को भूरिशः धन्यवाद दिये विना नहीं रहूंगा, जिनकी विदग्ध दृष्टि ने कापिशायनी के चषकों के मधु को परख लिया और उन्हें सहृदय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का साहस दिया। इन शब्दों के साथ मैं आशा करता हूं कि कापिशायनी के इस अंक का प्रकाशन अपनी पूर्णता को प्राप्त करेगा। मैं इसके लिए एक बार पुनः मित्रवर पाठक जी को बधाई देता हूं।

ब्रज मोहन चतुर्वेदी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१०-४-८०
दिल्ली।

मितम्

रचनेयं मुक्तकं काव्यम्। यथा चास्या नाम्ना प्रकटीभवति, प्रत्येकं पद्यमत्र द्राक्षोपमं माधुर्यपरिलसितमिति। भाषायाः सौष्ठवं व्यञ्जनायाश्चानुगुण्यं सर्वत्र काव्येऽस्मिन् पर्याकलयितुं शक्यते सहृदयैः। परन्त्वत्र परम्परागतसंस्कृतकाव्यतो यत् किञ्चिद् वैशिष्ट्यं तदस्यां संक्षिप्तभूमिकायां सहृदयानां सौकर्याय निर्दिश्यते।

कापिशायनीति शब्दः 'कापिश्याः ष्फक्' इति पाणिनीयसूत्रेण (अ० ४।२।९९) सिद्धः। 'कापिश्यां जातादि कापिशायनं मधु, कापिशायनी द्राक्षे'ति सूत्रेऽस्मिन् 'काशिका'। वर्तमान 'काबुल' नगरादूत्तरपूर्वतः, हिन्दूकुशाद् दक्षिणत आधुनिको 'बेग्राम' नामा नगरविशेषः 'कापिशी'ति स्व० डा० वासुदेवशरणाग्रवालमहाशयैः स्वकीये 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नाम्नि ग्रन्थे निर्दिष्टम्। कापिशी हरितद्राक्षाया उत्पत्तिस्थानमासीत्। तत्रैव निर्मितं कापिशायनं मधु भारतवर्षेऽप्यानीयते स्म। कौटिल्यस्यार्थशास्त्रेऽपि कापिशायनस्योल्लेखो लभ्यते।

प्रस्तुते काव्ये 'कापिशायनी'ति पदं वस्तुतो मधुपरं, न तु द्राक्षापरं कवेरभिमतमिति प्रतिभाति। श्रीपाठकमहोदये पारसीककवेरुमरखय्यामस्य पुष्कलः प्रभाव इति वक्तुं शक्यते, यतः काव्येऽस्मिन् तादृश्येव भङ्गीभणितिः, तादृशमेव संसारं प्रत्यनौत्सुक्यं तादृश एव च तथाकथितधार्मिकजनेष्वाक्षेप उपलक्ष्यते। यद्यपि पारसीककवेस्तान्येवाप्रस्तुतानि रूपकाणि कापिशायन्यामप्यनुसृतानि, तथापि कवेरस्य भावभूमिः पृथगेवेत्यत्र नास्ति सन्देहः। अत एवानुकरणमात्रमेतदिति न शक्यं वक्तुम्।

अत्र मधु-चषकादिरूपकाश्रयणेन किञ्चित्कथनं शनैः शनैरुर्दूसाहित्यस्य कवेर्गालिबस्येव सुतरां वैवश्यरूपमापद्यत। तथा चोक्तं गालिबेन—

"हरचंद हो मुशाहिदए-हक की गुफ्तगू
बनती नहीं है बादा-ओ-सागर कहे बगैर।"

(निरन्तरं परम-सत्यस्य दर्शनमभिलक्ष्य वार्तालापः प्रवर्तेत, परं मधु-चषकादिकथनं विना—यदहं विवक्षामि—तद् वक्तुं न पारयामि)

अतः प्रस्तुते काव्ये प्राधान्येनाभिधायाः शक्तेरुपयोगोऽकिञ्चित्कर एव। इह व्यङ्ग्यविशेषस्याकलने प्रवीणानामेव चेतः संवादमर्हति नाभिधेयार्थमात्रव्यासक्तानाम्।

प्रायः संस्कृतस्य परम्परागता अध्येतारः सहृदया एवं व्यङ्ग्यप्रायं मधुपान-विषयकं काव्यं श्रोतुमभ्यस्ता न सन्ति। तेषां कल्पनायामेतादृशाः कवयः पथभ्रष्टाः कामसुखपरायणा भवन्ति। परं, ते जानन्ति यदस्मिन् मधुचर्चाप्रधाने काव्ये प्रणयस्य परमपवित्रस्यैव भङ्ग्यन्तरेण भवति समुन्मीलनमिति। अत्र पायिनी न काचिदीश्व-रातिरिक्ता, मधु न किञ्चित्प्रणयातिरिक्तं, पानगृहं न किञ्चित् साधनागृहातिरिक्तम्।

येषाञ्च मतिः सर्वथा रूढपरम्परां प्रति विचित्रेण मोहेन संवलिता, तेऽपि काव्ये-ऽस्मिन् नैवास्वादपराङ्मुखा भविष्यन्ति। या च परम्परा स्वस्था प्रवाहमयी न तत्र कश्चन कस्यचित् प्रेक्षावतो विरोधः प्रभवति। कापिशायन्यां धार्मिकान् अभिलक्ष्य यत्किञ्चिद् वक्तव्यमस्ति तत्सर्वमेव रूढपरम्पराविषयकं तादृशमेव विरोधं सूचयति।

कापिशायन्याः पद्यानि मुक्तकरूपाणि, सत्यपि सामान्येन विषयैकत्वे परस्परं नैव सम्बद्धानि। अत एव मुक्तकं काव्यमिदमिति सन्धातव्यम्। यत्र-तत्र कवेरुक्तिषु परस्परं विरोधोऽपि संलक्ष्यते। स च क्षणविशेषजन्याया मनःस्थितेः परिवर्तनमेव समभिव्यनक्ति न किञ्चित् कवेरुद्भ्रान्तत्वमित्यप्याकलनीयम्। यत्र कुत्रापि ग़ालिवादिकवीनामनु-वादोऽपि स्वेच्छया कृतः प्रतिभाति।

काव्येऽस्मिन् 'वियोगिनी' 'औपच्छन्दसिकश्चे'ति अर्धसमं वृत्तद्वयं प्रयुक्तम्। वियो-गिन्येव क्वचिद् वैतालीयमिति क्वचिच्च सुन्दरीत्यप्युक्ता। महाकविना कालिदासेन रघुवंशस्याष्टमे सर्गे अजविलापप्रसङ्गे, कुमारसम्भवस्य चतुर्थे सर्गे रतिविलापप्रसङ्गे च वियोगिनीवृत्तमेवोपनिबद्धम्। 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी' इति वियोगिन्या लक्षणम्। अत्रैवान्ते एकस्य गुरोर्वर्णस्याधिक्येन प्रयोगे 'औपच्छन्दसिकं' नाम वृत्तं निष्पद्यते।

सर्वथा काव्यमिदं यथा समष्टिगते जीवने विचारस्वातन्त्र्यस्य समर्थकं तथा व्यक्तिगतेऽपि मानवसमाजे परमपवित्रस्य प्रणयापरपर्यायस्य चैतन्यस्य पक्षपातीति सम्यक् सन्धातुं शक्यम्। मधुपानानन्तरं यच्चैतन्यं विलुप्तमिव सञ्जायते तद् बाह्यमेव मन्तव्यम्, नान्तरिकं किञ्चित्। एवं येषां चित्तनदी प्रणयतरङ्गिता नित्यं प्रवहति त एव कापिशायन्या आस्वादनसमकाल एव कामप्यनिर्वचनीयां तन्मयतां पदे पदेऽनुभविष्यन्ती-स्माकं धारणा।

कापिशायन्यन्तर्गतानि रचनान्तराण्यपि सङ्कलितानि। यच्चास्मिन् प्रसङ्गे विशेषेणोल्लेख्यम्, तदस्ति पण्डितराजजगन्नाथविषयकं 'यवनिके'ति खण्डकाव्यम्। यद्यपि काव्येऽस्मिन् पण्डितराजस्य जीवने किंवदन्तीरूपं घटितं प्रणयप्रसङ्गमवलम्ब्य निर्मितमस्ति तथापि तत्र पद्यानां मुक्तककाव्यसदृश्येव च्छटा वर्तते। या च कापिशायन्या भाव भूमिः साऽपि तत्र किञ्चिद्भिन्नस्वरूपाऽऽकलयितुं शक्या सहृदयैः। एवं 'शलभदीपशिख'-नाम्नि काव्ये प्रणयसंवलिता भूमिः पारसीककाव्यतः परिगृहीता वर्तते। अन्ते, कतिपयेषां गजलगीतानां रुबाई-गीतानाञ्च सङ्कलनं संस्कृतकाव्यस्य क्षेत्रे यद्यपि नैव नूतनः प्रयोगस्तथापि वाचोयुक्तेरन्यतमस्यायामस्य तत्राकलनं कर्तुं शक्यत एव।

अनुक्रमणिका



कापिशायनी

द्राक्षारसमयी नूतनमुक्तककाव्यरचना

आधाय स्वहृदि प्रियाधरमधुस्वादाय दिव्यां तृषं
शास्त्राभ्यासमदं विधाय नितरां दूरे भवद्भिर्बुधैः ।
सन्धाय श्रवणाख्यसौम्यपुटकं स्वस्थेन सच्चेतसा
गोष्ठ्यां सम्प्रति कापिशायनमिदं निर्मक्षिकं सेव्यताम् ।।

तव वा मम वाऽस्ति जीवने नहि काचित्परमार्थतो भिदा ।
अयि रूपिणि ! रूपमेव ते कुरुते दर्शकदृश्यभावनाम् ।।१।।

चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि ।
मदमेष बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते ।।२।।

गगनं मधुवेश्म किं शशी मधुकुम्भः किमयं समुद्गतः ।
उडवः किमिमे च पायिनो निपतन्तः क्वचिदुत्थिताः क्वचित् ।।

मधुपानगृहस्य योषितां पृथगेव व्यवतिष्ठते क्रमः ।
मधु तं परिपाययन्ति यो नयनानामपि वेद भाषितम् ।।४।।

मधुरं मधु, मादकं मधु, बहिरन्तःस्मृतिमोषकं मधु ।
रसनाविषयस्य वस्तुनः स्मृतिमात्रेण भवेन्नु को गुणः ।।५।।

परिशीलनयाऽपि यत्नतो न जनः कोऽप्ययमिलन्मधुव्रतः ।
यदि सन्त्यपरे पिपासवो व्रतमेते मधुनो न बिभ्रति ।।६।।

शिथिलेषु मधुप्रदानतो मधुयोषिज्जनपाणिषु क्षणम् ।
चषकः स्थिरभावमागतो मम रिक्तोऽपि बभूव पूरितः ।।७।।

परिपूर्यत एष पूर्वया मधुमेघैर्गगनं महाघटः ।
सकला अपि मादृशा जना मधु पास्यन्ति विनैव मूल्यकम् ।।८।।

तव सुन्दरि मन्दिरान्तरं प्रविविक्षुः प्रथमं यदाऽभवम् ।
स्खलितस्य तदेव हन्त मे चषको मृण्मय एष चूर्णितः ।।९।।

कुसुमेन शिरो ह्यलङ्कृतं तदिदं नाम महन्महत्सुखम् ।
निरलङ्करणां परं लतामवलोक्यापि मनोऽवसीदति ।।१०।।

फलमेतदिहोपभुज्यते ह्यपराधस्य किमेव कस्यचित् ।
मधुना क्षणमप्यहो त्वया चषकोऽद्यावधि मे न पूरितः ।।११।।

क्व पिकेन कुहूरवः कृतो मधुरागत्य कुतोऽथवा गतः ।
इति वेद्मि न हन्त साम्प्रतं गहने सन्तमसे विनिःश्वसन् ।।१२।।

स्खलितानि बहूनि सन्ति मे मधुपानं न च तत्र कारणम् ।
स्खलनप्रकृतेर्न हन्त मे मिलितः कोऽपि करावलम्बदः ।।१३।।

पुरतो मधुपानशालिका मम देवालय एष पृष्ठतः ।
प्रविशेयमितस्ततोऽथवा क्षणरुद्धो विमृशामि साम्प्रतम् ।।१४।।

तव दृष्टिनिषेकवञ्चितं तव रे पाणितलातिदूरगम् ।
मरुभावमुपैष्यति प्रिये ! मम किं जीवनमेतदन्ततः ।।१५।।

सुमनःशयनं हि जीवनं ननु येषामिह सन्ति तेऽपरे ।
बहुकण्टककीर्णमेतदाः प्रतिपन्नं तु सदैव मादृशैः ।।१६।।

हृदयं हृदये मनो मनस्यपि सङ्गत्य तदकेतां गतम् ।
अधुना तमुपालभे जनं त्वयि यो मय्यपि भेदमिच्छति ।।१७।।

चषकं परिपूर्य पूरयाशां मम रे जीवनमस्ति रिक्तरिक्तम् ।
मधु नाम करोतु नोन्मदं मां जगदेतत् क्षणमेव विस्मरामि ।।१८।।

किमपेक्षितमस्ति तेऽथवा न तथाऽपेक्षितमस्ति किञ्च ते ।
प्रकटीकुरु यद् यदस्ति तन्मधुशालानियमो न गोपनम् ।।१९।।

मम केवलमीदृशो विचारस्तव वा हन्त न तादृशो विचारः ।
उभयोर्यदि योगमीहसे चेच्चल तत्रैव यतोऽस्ति पानगोष्ठी ।।२०।।

तव चेतसि भावनाऽस्ति काचिद् द्विजशूद्रद्वितयेऽथ भेदमूला ।
इतरत्र कुतोऽपि यापय स्वान् दिवसांस्ते नक्तेऽस्ति पानगोष्ठी ।।

नियमो न, तथाप्युपैति यः स पिबत्येव हि फल्गु वाऽधिकम् ।
अयशो मधुपानसंसदस्तृषितस्येह गतस्य न क्षतिः ।।२२।।

स्मृतिसद्मनि मेऽतिजर्जरे क इहोपेत्य विनिर्गतः क्षणात् ।
क्षणमेष तदीयनूपुरध्वनिमश्रौषमहो, विनिद्रितः ।।२३।।

सुरभिः कुत एष पावनः पवनो मां मदयन् समागतः ।
अपि कञ्चन हन्त तत्तनुक्षणसंस्पर्शमुपेतवानयम् ।।२४।।

कथयन्त्यनवेक्ष्य मत्स्वभावं पतितं मां, पतनस्य किं निमित्तम् ।
मधुनः पृषदेकमेव पीतं मधुशालासु गतो न वा गतोऽस्मि ।।२५।।

प्रणयो मधुशालया न कश्चिन्न च कश्चिन्नमधुनाऽपि पूर्णरागः ।
चषका बहवोऽत्र पानगोष्ठ्यां प्रणयिन्याः करपल्लवान्मिलन्ति ।।

मम धार्मिक! चेतसो नतृप्तिस्त्वमतृप्तोऽसि कुतोऽहमद्य याचे ।
इदमेव विचारयन्नशक्तो मधुशालामुपयामि पातुमिच्छुः ।।२७।।

न विचारय तर्कयापि नैवं मधुशालां प्रविशाद्य निर्विचारम् ।
बहिरेव निधेहि भेदबुद्धिं मधु पीत्वा निरितो ग्रहीष्यसीमाम् ।।२८।।

मिलनं मम लक्षशो मनुष्यैरभवत्त्वं मिलिता न तावदेका ।
परिपूर्णकुतूहलामिदानीं मधुशालामवलोकयामि शून्याम् ।।२९।।

किमधीरतया विलोकयन्नसि पूर्णं चषकं गृहाण रे ।
पिब रे त्वरितं न चेदयं मधुशाला स्थगिता भविष्यति ।।३०।।

यदि जीवनमस्ति नीरसं सरसं कः खलु तद् विधित्सति ।
सरसीकृतवस्तु कोऽप्यहं विरतः स्यात् स विलोक्य मद्दशाम् ।।३१।।

सकलेऽहनि जीवने समस्ते न वयं धर्ममतीव कल्पयामः ।
न कृतं कृतमेव वा यथेच्छं मधुशालेव मदीयधर्मशाला ।।३२।।

मिलितं चषकार्धमेव मे तव पूर्णश्चषको बभूव चेत् ।
किमनेन, विलोकयाधिको मदमत्तो भविता क आवयोः ।।३३।।

क इमे य इमे हसन्ति दृष्ट्वा मयि, विक्षिप्तवदीदृशो भ्रमामि ।
न हसन्तु भवन्त एव योग्या नहि जाने कुत ईश्वरस्य कोपः ।।३४।।

मम नाम पुरोऽखिलं जगन्मरुभूमिर्विततातिनीरवा ।
भवतादपि कस्यचित् पुरः कुसुमोद्यानमिदं खगाकुलम् ।।३५।।

सुमृदूनि मनोहराणि च व्यथयन्त्येव सुमान्यपीति चेत् ।
जन एष कथं नु कण्टकान् जगति व्यर्थमहो विनिन्दति ।।३६।।

विषमासु कुतोऽपि लभ्यते न शमः सम्प्रति भाग्यवृत्तिषु ।
तव धार्मिक ! मन्दिरेषु वा मधुशालासु च वा तव प्रिये ।।३७।।

अमृताय कियन्नु काङ्क्षितं यदि पूर्णं मधु काचिदर्पयेत् ।
अमृतं मधुरं हि केवलं मधुरोन्मादकलक्षणं मधु ।।३८।।

मधु दास्यसि साम्प्रतं प्रिये ! स्पृहयेत्येव समागतोऽस्म्यहम् ।
पुनरागमनाय यद् वदस्यधुना यामि न यामि न स्पृहाम् ।।३९।।

न तथा न तथा घटेत यद् घटितं चेद् विघटेत सर्वथा ।
स्मृतिसद्मनि यत्त्वमागता परिलुप्ताऽसि तडित्प्रकाशवत् ।।४०।।

जलमध्यगता महोर्मयो मम नावं तटभूमिमानयन् ।
तटभूमिगता लघूर्मयो मम नावं शनकैर्न्यमज्जयन् ।।४१।।

कविता भवतः कृते भवेत् स्वमनोरञ्जनमात्रसाधनम् ।
नहि किञ्चिदसत्यमुच्यते मम मुग्धस्य कृते तु जीवितम् ।।४२।।

मधुना भरितं विगृह्णतश्चषकं चेतसि मेऽभवत् क्षणम् ।
किमिहान्यजनस्य कस्यचिन्मधुभागस्तृषितस्य तिष्ठति ।।४३।।

अपराद्ध इतोऽस्मि दण्डय इत्यहमङ्गीकृतवान् पुनः पुनः ।
तव हन्त न वेद्मि चेतसि क्वचिदार्द्रा स्फुरति क्षमा न वा ।।४४।।

न पराजयमात्मनः सहे त्वमभूः क्रूर इतः कियान् विधे !
हृदयेन हि खण्डितेन मे कियदद्यावधि हन्त खेलसि ।।४५।।

न शृणोति न हन्त वेत्ति वा तव मेऽन्योन्यसुभाषितं जनः ।
स्फुटतां गतमेतदावयोस्तदपि प्रेम यतःकुतश्चन ।।४६।।

निहतोऽहमिहाशयाऽप्यहो नहि नैराश्यहतोऽस्मि केवलम् ।
सुमनोभिरपि क्षतोऽस्म्यहं नहि रे केवलकण्टकक्षतः ।।४७।।

रुदितं हृदयस्य मामकी कवितेत्येव विमृश्य सद्बुधैः ।
न च वाग्व्यवहारमात्रमित्यवधार्य श्रवणं विधीयताम् ।।४८।।

समभूद् हृदयस्य बन्धनं मम किं रे तव रूपकाञ्चनम् ।
तव मृण्मयहृद्गतोऽथवा प्रणयो बन्धनकारणं मम ।।४९।।

मधु केन पथा, दवीयसः कुत एतन्नगरादुपैति वा ।
इति नैव विमृश्यते प्रिया स्वकरादर्पयतीति पीयते ।।५०।।

भवते पवनाय तत्तनोर्नयते सौरभमत्र निर्भरम् ।
बहु साधु वदेयमेव चेन्न भवान् हृद्दहनं प्रवर्धयेत् ।।५१।।

भवतीं भवतीमरे पुनर्भवतीमेव वदामि, न श्रुतम् ।
चषकं विनिगृह्य तिष्ठति प्रणयी त्वत्पुर एष दृश्यताम् ।।५२।।

प्रकृतिर्विषमैव जायते मधुपानादथ धर्मसङ्ग्रहात् ।
निवसामि तु देवमन्दिरे मधुशालासु पिबामि, पश्य माम् ।।५३।।

हृदयं परिशीलितं तया बहु संस्पृश्य, विविच्य वा बहु ।
कथमेव मदन्तिके स्थितः प्रणयिन्या चषको न पूरितः ।।५४।।

स्मरणीयमरे तवैव चक्षुस्त्वितरद् विस्मरणीयमेव सर्वम् ।
वयमद्य यदाहता भवामः प्रतिशिष्टः शर ईदृशो भवत्या ।।५५।।

यदि नाम तिरस्करोत्यसौ सहसे हन्त तिरस्क्रियां न किम् ।
प्रणये हि तिरस्क्रियैव सा प्रथमं मङ्गलमित्यपेक्ष्यते ।।५६।।

अहमित्यहमित्युभौ जनौ कलहं चेत् कुरुतः परस्परम् ।
हृदयस्य हि योजनाय तन्मधु तत्रैव समग्रमानयेः ।।५७।।

मम कैव दशोपकल्पिता मधुना मत्प्रणयोपकारिणा ।
निपतामियतः कुतोऽप्यहं प्रणयिन्या नगरे परिभ्रमन् ॥५८॥

रुदितं न मया कियत्, कथा रुदितस्यैव मम प्रवर्तते ।
हसितान्यपि रूपसंवृति रुदितस्यैव ममेति विद्धि रे ॥५९॥

इह किञ्चिदपेक्षितं न मे न च मे किञ्चिदपि प्रतीक्षितम् ।
सफलाऽस्तु कृपाब्दता तव कुशलिन्यस्तु पिपासुता मम ॥६०॥

मधु नाम मृषा न मत्कृते ननु सत्यं ननु सत्यमेव रे ।
पिहितं नहि मृण्मयेन तन्न च पात्रेण हिरण्मयेन तत् ॥६१॥

अहमेव पिपासितो गतो यदि नामात्र न कोऽपि विस्मयः ।
पथिका यदनेन वर्त्मना न कियन्तोऽतिपिपासिता गताः ॥६२॥

न वृथा मधुपानशालिका न वृथा नापि च पायिनी वृथा ।
अहमेव वृथाऽलिकस्थले मधु धात्रा लिखितं न यस्य हा ॥६३॥

तपनातपतो यथा दिने परितप्तोऽभवमन्वहं तथा ।
मम पृच्छ न दुर्विधिं विधोः परितप्तोऽभवमंशुभिर्निशि ॥६४॥

बहु भाषितुमिच्छुकोऽप्यहं न किमप्यालपितुं समुत्सहे ।
मयि केनचिदार्द्रचेतसा स्मयमानेन जनेन भूयते ॥६५॥

कियतः सुकृतस्य तत्फलं यदियं नाम पिपासुता मम ।
मधुपानभवा तु हन्त सा परितृप्तिः कथमेव रोचताम् ॥६६॥

वितते गगनेन्द्रनीलपात्रे कुसुमं तारकराशिमाप्रकीर्य ।
विधुना घृतदीपकेन कोऽयं तव नीराजनिकामहो विधत्ते ।।६७।।

वितते जगतीह चेष्टितं यैर्यदि वा हन्त सुखाय केवलाय ।
बत दुखमतीव तैर्नु लब्धं विपरीतं यदिदं विधेर्विधानम् ।।६८।।

तडितां निचयस्य या च्छटा जलदाडम्बरके विराजते ।
तव केशकलापमध्यगं मुखमालक्ष्य विचिन्त्यते नु सा ।।६९।।

अनुभूतमिदं नवं मया मधु तस्याः पिबता करार्पितम् ।
रमणीयतरा इमे जना रमणीयं हृदयं न बिभ्रति ।।७०।।

मम सम्प्रति यत्नतो दृढं चरणौ शृङ्खलितौ तथा कुरु ।
अधुनैव निर्वर्तितौ पुनर्मधुशालामुपसर्पतोऽन्यथा ।।७१।।

चषकं मधुसम्प्रदायिनः स्वकरे बिभ्रति ते निरन्तरम् ।
विदितं ननु कस्य, यन्मिलेन्मधुशाला पथि यत्रकुत्रचित् ।।७२।।

चषके मधु नीतमेतया कथमानीतमितो न लोचनम् ।
अवलोकनसङ्गतं गुणं मधुनो मादकतेति मन्वते ।।७३।।

तव तिष्ठति लक्ष्यमन्यदेशे क्वचिदन्यत्र निरीक्षणं विधत्से ।
निपतिष्यति नैष दृष्टिपातो मयि चेत्त्वां परिकल्पयामि भिन्नाम् ।।

अभिधातुमसम्मतिं हि लोकव्यवहारेषु प्रयुज्यते नकारः ।
मधुविक्रयिणीहि काऽपि बाला स्मितवस्त्रेण नकारमावृणोति ।।

अतिमात्रकृशे कटिस्थले मधुकुम्भो ह्यनया निवेशितः ।
व्यथितामवलोक्य तामहं व्यथितं मानसमावहामि यत् ।।७६।।

कुरुते यदि न प्रवञ्चनां परिशुद्धेन हृदा च तिष्ठति ।
अपि धार्मिक एव किं न स प्रणतास्तं प्रति सर्वथा वयम् ।।७७।।

मम वक्षसि तावदीदृशस्तव पाणिः परिवर्तितो भवेत् ।
अयि यावदुपैमि चेतनां मधुमोहं परिहाय नात्मना ।।७८।।

अवलोक्य नतानना भवेन्न च किञ्चित् कथयेन्न वा हसेत् ।
इयताऽपि न वेत्सि साम्प्रतं प्रणयस्त्वय्युपदर्शितस्तया ।।७९।।

त्यज चञ्चलतां स्थिरो भव क्वचिदेकत्र समाधिमाप्नुयाः ।
इति मामुपदिश्य धार्मिकः किमु पाषाणगुणं विधित्सति ।।८०।।

अवलोक्य युवानमेव यं मधुयोषिन्निजगण्डदेशजाम् ।
अवगच्छ तमेव मन्यते यदि कण्डूतिमसौ विनोदयेत् ।।८१।।

कुसुमानि रुदन्ति साम्प्रतं शयनोत्थायमहो छिनत्ति नः ।
दृषदश्चरणेषु निक्षिपन् न पुनर्निर्हृदयः स दूयते ।।८२।।

इयतैव सुखेन किं सुखं बहु तावत् परिकल्पयिष्यते ।
अनुयास्यति यावदेव मामिह ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ।।८३।।

इह कश्चन नाभ्युपैति तावन्मधुपूर्णं विदधे स्वकीयपात्रम् ।
विनिवर्तत एव धार्मिकोऽसौ परिपीयाशु पुनर्विनिक्षिपामि ।।८४।।

प्रणयं न चकार नापिबन्मधु दुःखानि न सोढवानयम् ।
कवितामथ कर्तुमीहते तदसम्भाव्यमहो विधित्सति ।।८५।।

अवलोक्य नताननाऽभवत् पुनरुन्नीय मुखं ददर्श माम् ।
इयति क्षण एव जीवनं मरणं नन्वनुभूतवानहम् ।।८६।।

कृपणा हि भवन्ति ये स्वयं मधु पीत्वा प्रणयं न कुर्वते ।
इतरे तु ततोऽपि दुर्गताः प्रणयन्तो न पिबन्ति ये मधु ।।८७।।

सुविचार्य कृतं सुचिन्त्य वा कथितं विद्धि न याति विक्रियाम् ।
सुविचार्य सुचिन्त्य तु क्वचिन्मधुपानं विकरोति पायिनम् ।।८८।।

अयि चेतनतां गतोऽसि सम्प्रति पीतं मधु किं नहि त्वया ।
स्वकरेण समर्पितं तया भवदर्थं मधु किं न साम्प्रतम् ।।८९।।

मधु नाम तदेव वस्तु यत् स्वकरेण प्रणयिन्युपाहरेत् ।
अमृतं ननु तद् भवेद् भवेदथवा तद् विषमेव वा पुनः ।।९०।।

रमणं न समाचकाङ्क्ष का रमणीं नैव समाचकाङ्क्ष कः ।
इति सत्यपि लोकदर्शिनां ननु मय्येव कथं विरोधिता ।।९१।।

चषकं नयतोऽधरस्थले करमाकर्षति सा तवापि चेत् ।
त्यज निक्षिप तं न गृह्यते प्रणयो यत्र न कश्चिदादरः ।।९२।।

उपलभ्यत एव न प्रियो ह्युपलब्धोऽपि पुनः पलायते ।
ननु यस्य मता पलायनं प्रकृतिस्तस्य तु किं विधीयताम् ।।९३।।

प्रणयो विपरीतपद्धतिः प्रियलाभार्थमुरीकृतो मया ।
विधिना ननु येन लभ्यते स जनः सम्प्रति विस्मरामि तम् ॥९४॥

प्रथमं कटुताऽनुभूयते मधुपाने तदनन्तरं न सा ।
मधु हन्त गलादधोगतं हृदि पीयूषमिदं निषिञ्चति ॥९५॥

चषकं स्थगयामि नात्मना मधुदानं स्थगयत्यसौ न यत् ।
स्थगयिष्यति सैव चेत् करं चषको मे स्थगितो भविष्यति ॥९६॥

स्वयमेव समुल्लसन्ति जाने न कियत्यो मधुसद्मनः पताकाः ।
अतएव पिपासवो नवीना अपि निर्भ्रान्तधियो विनिर्विशन्ति ॥९७॥

अहमेव परिस्खलन् मदान्धः प्रणयिन्या न्यपतं पुरः पृथिव्याम् ।
नयने अपि मीलिते तदानीं चषकश्चूर्णतरस्ततो बभूव ॥९८॥

निपतन्नभवं निपातयन्नभवं वा कलहेषु धार्मिकम् ।
विजयं तु वदन्ति सर्वतो बत तस्यैव, पराजयं मम ॥९९॥

मधुलोलुपतैव मामियं मधुशालासु पुनर्विनेष्यति ।
हृदयं तु मदीयमन्यथा मधुयोषिद्वचनाद् विदीर्यते ॥१००॥

अवगुण्ठनविह्वले क्वचित्प्रणयोऽपि क्रियतेऽवगुण्ठितः ।
तृणकेन पिधाय साम्प्रतं किमिमानग्निकणान् विलुम्पसि ॥१०१॥

शपथः प्रणयस्य न क्वचित् प्रणये केनचिदेव गृह्यते ।
कथयिष्यति सैव चेत् स्वयं नियतं नैव पिबाम्यहं ततः ॥१०२॥

कुत एव स धार्मिकः कुतो मधुशालेति क एव पश्यति ।
गत एव दिने विनिःसरन् प्रविशन्तं तमहं व्यलोकयम् ।।१०३।।

मनसो मनसो विचिन्तितं कथमेकत्वमुपैतु सङ्गमे ।
चषकं मधुनः कणैरसौ कथमभ्यर्थनयाऽपि पूरयेत् ।।१०४।।

नहि तुष्यति धार्मिको मया नहि तुष्यामि च तेन साम्प्रतम् ।
अयमेव दुराग्रहो न मे न च तस्यापि मनो विमुञ्चति ।।१०५।।

जगतः परिवर्तने तथा मधुयोषिद्वचने न भिन्नता ।
चषकः परिपूरितोऽप्ययं सविधे वर्तत एव तेन किम् ।।१०६।।

क्वचिदेव निपीयते क्वचिद् विनिपत्यैव निशा विनीयते ।
सदयाः स्वजना वदन्ति यन्न पिबेदेष तदैव शोभनम् ।।१०७।।

अयि जागृत योगिनो निशेयं ननु निद्राति समस्त एष लोकः ।
नच सम्प्रति सन्ति धार्मिकास्ते मधु पातुं समयःसमागतोऽयम् ।।१०८।।

अपि कश्चन वर्तते नवीनो विनिगृह्णाति न हन्त पानपात्रम् ।
प्रविशत्यधुनैव काऽपि बाला मधुशालां स विनिःसरेदिदानीम् ।।१०९।।

बत सम्प्रति लोक एष सर्वान् मयि दोषान् विनिपातयिष्यतीति ।
यदि नैव पिबामि वारुणीं वा मधुयोषिद् यदि वा प्रयाति रोषात् ।।

अधिकं न पिबामि केवलं परितृप्त्यर्थमिति त्वमर्थिता ।
भवतीमुपलब्धवानहं न विजानाति कियद्भिरीप्सितैः ।।१११।।

प्रकृतिस्तव निश्चितं तथा मधुबाले कुटिला भविष्यति ।
भ्रमतस्तव भालपट्टके करवालोपमिते भ्रुवौ यथा ॥११२॥

रुदितानि वृथैव साम्प्रतं किमपि श्रोष्यति नैव धार्मिकः ।
हृदयं दृषदर्चका इमे दृषदा निर्मितमेव बिभ्रति ॥११३॥

प्रथमं तु ममैव मन्दताऽजनि विश्वासमकार्षमेषु यत् ।
अवरोध इहास्ति सर्वतः क्वचिदायामि न यामि साम्प्रतम् ॥११४॥

निपतामि निपातयामि वा कलहस्तेन समं भविष्यति ।
मम हन्त स एव धार्मिको मधुपाने नितरां विराध्यति ॥११५॥

अवरुद्ध्य निमीलितां क्षणं यत आलिङ्गितवानहं प्रियाम् ।
स्वयमेव ततो गवाक्षतः पवनः प्राविशदुत्तरेतरः ॥११६॥

स्वपिमि स्वयमेव शीकराननिलः श्रान्तिभवान् व्यपोहति ।
करकम्पितचामरानिले प्रणयिन्यास्तु सुखं मतं सुखम् ॥११७॥

चषकोऽस्ति नवीन एष मे मधुपातान्न परिस्फुटेदयम् ।
कृपयाऽतिसमाहिता भवेः कृपया देहि शनैः शनैर्मधु ॥११८॥

मधुपूरितमेकमेव पात्रं स्वगृहात् प्रेषय मत्प्रिये मदर्थम् ।
विनिपीय यदा मदस्य वृद्धिर्भविता तावदुपैष्यते जनोऽयम् ॥११९॥

स्पृश नाम तदेव मत्कृते मधु सम्पत्स्यति वस्तु यद् भवेत् ।
इत एव पिबामि चेत् स्थितो मधुशालैवमितो भविष्यति ॥१२०॥

प्रणयस्य हि येन दीपको हृदि प्रज्वालित एष साम्प्रतम् ।
अपसार्य तमः स निश्चितं मम वर्त्मापि प्रदर्शयिष्यति ।।१२१।।

निजयैव कदाचिदुत्थया व्यथया ज्ञास्यसि तन्वि मद्व्यथाम् ।
हृदयं हि विदीर्य चेदियं यदि दृश्येत ततोऽप्यहं क्षमः ।।१२२।।

मधुनो मद एष साम्प्रतं क्षणमुन्माद्य विलीनतां गतः ।
मद एष तवैव दर्शनाद् भृशमुन्मादयतीह सन्ततम् ।।१२३।।

इदमेव हि लाभमाप्तवान् मधुपानादहमद्य जीवने ।
भवतीं प्रतिकूलमानसामपि जानाम्यनुकूलमानसाम् ।।१२४।।

यदि जीवनमेव लब्धवानसि तज्जीव सुखं हि जीवनम् ।
मरणे सुखकल्पकेष्वतः कथमस्मासु विधीयते मनः ।।१२५।।

मन एव नहि प्रवर्तते मनसः किं हि विधेयमात्मनः ।
मधुनोऽपि भवेन्निवर्तनं यदि चेत् स्यामहमद्य निर्वृतः ।।१२६।।

अपराधशतं सहे पुनर्न सहे धार्मिक ! ते विरोधिताम् ।
प्रथमं मधु दीयतां शृणोम्युपदेशं तदनन्तरं तव ।।१२७।।

प्रभवत्यनुरागबन्धनं हृदयं योजयितुं यदि द्वयोः ।
मधु तत्र करोति काङ्क्षिताधिकपीतं सुखमद्वयोपमम् ।।१२८।।

अयि शाङ्करदर्शनज्ञ मेऽपि जगद् भाति मृषैव पश्यतः ।
त्वमधीत्य हि वेत्सि मादृशा मधुमात्रं विनिपीय जानते ।।१२९।।

प्रणयो मम तद्विलोकनादतिरिक्तं नहि किञ्चिदिच्छति ।
अधिकाधिकचेष्टितं वृथा यदि नान्ते स मिलेत् प्रियो जनः ।।१३०।।

जगदेतदहो निरर्थकं बत किलाभकमस्ति जीवनम् ।
किमिमे नभसि स्थिता ग्रहाः सकलाः क्रीडनकानि कस्यचित् ।।१३१।।

मधुपानविनष्टबुद्धयस्तव सङ्केतमिमे न जानते ।
हसितात् प्रणयस्य लक्षणादपि किञ्चित् कथनीयमस्ति ते ।।१३२।।

यदभूत्तदभूद् भविष्यदप्यनुमन्ये मम वर्तमानवत् ।
कृतयाऽपि किमाशया स्वतो भविता यद् भवितव्यमात्मनि ।।१३३।।

अपुनःपरिवर्तनाय मे सुहृदो यान्ति विधीयतां किमु ।
धिगमङ्गलमश्रुमोचनं धिगिदं पीडनमेवमात्मनि ।।१३४।।

प्रणयः खलु सर्वतः प्रियो मधु तस्मादधिकं मम प्रियम् ।
मधुनोऽप्यधिका च भामिनी स्मितमस्याश्च ततोऽपि मत्प्रियम् ।।१३५।।

अपि दूरत एव दूरतो मधु दृष्ट्वैव निवर्तितो भवेः ।
अनुमाय तदीयचेष्टितं चषकैः सार्धमिमे निवर्तिताः ।।१३६।।

कथयत्यवनस्य लोचनं मुखमावृत्य निजाञ्चलेन सा ।
भवदागमनं विलम्बितं मधु कोऽप्यन्यजनो गृहीतवान् ।।१३७।।

गुरवः परिचाययन्ति मां हठवेदान्तमनन्तमुक्तये ।
प्रणयं प्रणयस्य बन्धने मम जानन्ति न ते विशेषतः ।।१३८।।

मधु धार्मिक ! तत्करादितो मिलदेतद् यदि नाम बाधसे ।
सफलो भवितासि किं पुनः प्रणयिन्याः प्रणयावरोधने ।।१३९।।

स्मितमेव पिपासुमीदृशं विदधे सम्प्रति तावकं नु माम् ।
मिलितान्मधुनोऽन्यथा करात् क इवास्वाद्य पुनः पिपासति ।।१४०।।

विरतं भव जीवनाधुना तव भारं न सहे कथञ्चन ।
मधु दातुमुपागताऽप्यहो मधुयोषिद् विरताऽधुनाऽभवत् ।।१४१।।

कथमेष निरन्तरं जनो मरणं जीवनमेव कल्पयेत् ।
विदधन्मदिरां गलादधः स कथं तिष्ठतु नैव विह्वलः ।।१४२।।

हृदयाहृतहृज्जनः प्रियं स्वत एव स्वत एव भाषते ।
नयनाहृतहृत्तु सस्मितं स्वत एव स्वत एव पश्यति ।।१४३।।

इह मृत्युमये भवाम्बुधौ सततं जीवननौः कृतभ्रमिः ।
ननु यत्र लगेत् समस्थले तटमित्येव ततोऽनुमीयताम् ।।१४४।।

मदिरां न परित्यजामि यद् वा मम तद् वा परिगृह्यतामिदानीम् ।
चषकं न परित्यजामि सत्यं किमहं धार्मिक ईदृशोऽस्मि कश्चित् ।।

पतितश्चषकः कथं करात् प्रणयः किं मम कम्पमाप्तवान् ।
अयि जीवन ! नश्य वा स्वयं प्रणयो नश्यतु नाम नैव ते ।।१४६।।

नहि मृत्युमुपेत्य कोऽप्यहो सुखमासादयतीति निश्चितम् ।
न सुखं यदि जीवनादभून्मरणात् किं तदितो भविष्यति ।।१४७।।

इदमुच्छलदुच्छलत् पुनर्हृदयं कः शमितं विधास्यति ।
हृदयस्य ततः शमेन कः प्रणयं नाम तथा विधास्यति ।।१४८।।

प्रणयो मरणान्त उच्यते मरणान्तं भवितापि जीवनम् ।
मरणेन निरस्य जीवनं प्रणयस्याध्वनि दीयते पदम् ।।१४९।।

न भवन्ति जनाः सहायकास्तमसो वर्त्मनि नाम गच्छतः ।
परिरभ्य निरन्तरं स्थितः प्रतिबिम्बोऽपि तदा विमुञ्चति ।।१५०।।

मनसोऽपि दृगस्ति कस्तथा व्यवहारेऽपि नयत्यमुं जनः ।
बहवो निजचर्मचक्षुषा कलयन्तोऽनुपदं स्खलन्त्यहो ।।१५१।।

विवशः प्रणयादिहाभवं नहि चेत् को विदधीत तादृशम् ।
पृथगेव ततो विधीयतां नहि किञ्चित् प्रभवामि साम्प्रतम् ।।१५२।।

जगतोऽपि सुखस्य साम्प्रतं निजपद्भ्यां विदधे तिरष्कृतिम् ।
मधु मच्चषकाधिकं प्रिया सममानेष्यति यन्निशम्यते ।।१५३।।

नहि कश्चन चेष्टयाऽपि मामवदन्न स्पृश मद्यमेतदाः ।
अपिबं पयसो भ्रमादहं न मदः शाम्यति तस्य साम्प्रतम् ।।१५४।।

यदि नाम भवन्ति धार्मिकाः सुखिनः किं सुखमेव जीवनम् ।
न तदीप्सितमस्ति मादृशां न च तत्रास्ति प्रवृत्तिरात्मनः १५५।।

मम धार्मिक ! कापिशायनी तव कर्त्री नहि धर्मनिर्णयम् ।
मधुनि प्रणयस्य मत्कृतिः सरलं वर्त्म निदर्शयिष्यति ।।१५६।।

अयि मुग्धतमोऽसि धर्मतो मधुनो नैव विरोध ईदृशः ।
कथमेव विकल्पसे वृथा मधुवृत्तेरपि धर्मपाचरेः ॥१५७॥

तव वर्णितवद्भिरीदृशीं निजवाग्भिर्मुखचन्द्रचारुताम् ।
कविभिर्विरतैर्न भूयते नहि लज्जाऽपि रुणद्धि तानहो ॥१५८॥

बहवः प्रणयन्ति केवलं प्रणयिन्याः प्रियरूपदर्शनात् ।
न वयं प्रणयाम ईदृशं प्रणयिन्येव न एक आश्रयः ॥१५९॥

न तथा विदधाति मानवः स यथैवात्मनि निश्चिनोत्यहो ।
विमृशामि कियत् कियद् वृथा परितोषो मधुनैव जायते ॥१६०॥

तम एव तमो विलोकितं स्वगृहान्निःसरता मया क्षणम् ।
स्वगृहे मधुपानतः शिवं स्वगृहान्निर्गमनं न काम्यते ॥१६१॥

शयितोऽसि यथा तथा मृदि त्वमुपेतोऽसि तथावृतिं मृदः ।
भवितासि पुनर्मृदेव वा सकलं मृण्मयमेव तन्न किम् ॥१६२॥

स वृथैव विशङ्कते जनः कुत एवं मधु तत्कुतो वयम् ।
परमित्यपि सत्यमस्ति यन्मधुनः स्पर्शमकार्षमेकदा १६३॥

हृदयाय शपे पुनस्तव प्रणयायापि शपे विशेषतः ।
मम पूरय पात्रमात्मनो मधुभिः प्रेयसि नोपहस्यसे ॥१६४॥

सुबहूनि सुखस्य साधनान्यथ चेत् सन्तु ततोऽपि ते तृषा ।
सततं महती प्रवर्धते विरता हन्त कुतो भविष्यति ॥१६५॥

विषमे बत जीवने स्थिरा न भवत्येव मतिः कथञ्चन ।
परिणामविदस्ति कोऽपि नो कुत आरब्धमिदं क्व यास्यति ।।१६६।।

अधरेऽसि विशिष्य रञ्जिता नवरागः कुत ईदृशोऽभवत् ।
अथवा परिपक्वदाडिमीरस एवामिलितोऽधिवारुणि ।।१६७।।

चषकस्तव रागवानयं मधुरागेण विशिष्य वर्तते ।
हृदयं मम रागवद् भवेन्मधुदानाय ततस्त्वमर्थ्यसे ।।१६८।।

विवशोऽस्मि विरन्तुमात्मना मधुपानादिह नैव शक्यते ।
अयि धार्मिकवर्य ! सन्मतेः परिवृत्त्यर्थमुपायमाचरेः ।।१६९।।

अवलोक्य मदीयभाग्यरेखां मुखभङ्ग्या गणकोऽथ मामवादीत् ।
कुपितः शनिरेष तावता त्वं कुरु दानानि तदीयतुष्टिदृष्ट्या ।।१७०।।

अहमप्यनुरागवानिति प्रणयिन्याः सविधे वदन्ति ये ।
अवलोकितवानहं हि ते मधुपानावसरे न जाग्रति ।।१७१।।

प्रणयं विदधद् यथा तथा मधुशालासु पिबन् यथा तथा ।
विमृशामि तथा कियद् भवे प्रभवेयं परिशेषजीवितः ।।१७२।।

अयमेष निसर्गपण्डितो नियतं धर्मकथां प्रवक्ष्यति ।
नहि तत्त्वविदस्तथा वयं मधुपानादधिकं न कल्प्यते ।।१७३।।

चषको मधुशून्य एव यत्तव हस्तात् स मिलेन्मिलेदपि ।
मधुनो न तथाऽस्ति कामना तव हस्तादयमेव चेन्मिलेत् ।।१७४।।

प्रभवन्नपि निश्चितं जनो नहि साफल्यमुपैति तत्त्वतः ।
मधु केवलमेकमापिबन् सफलोऽस्म्यप्रभवन्नहं तथा ।।१७५।।

भविता हितमेव मामकं मरणेनाधिकजीवनादितः ।
सहजोऽपि हि मृत्युरात्मना मयि नोपक्रमते विशेषतः१७६।।

मदिरां न पिबामि जीवनादधिकं खिन्न इतस्तथाऽभवम् ।
प्रणयिन्यपि साम्प्रतं स्मृतेरतिदूरे कियदेव जायते ।।१७७।।

नहि पश्यति मां प्रिया पुनः पुनरादाय पिबन्तमात्मना ।
चषकः क्रियते यथा यथोर्ध्वमियं पूरयते तथा तथा ।।१७८।।

लिखितं पदमेकमेकवारं मधु पीत्वैव पुनः पुनस्तथैव ।
रचिताऽपि च कापिशायनीयं भवतामेव समक्षमागता च ।।१७९।।

प्रणयस्य पथि प्रवर्तितं कृतवानीश्वर ! मां तथा यदि ।
हृदये परिपूरय व्यथामहमाप्स्यामि कलङ्कशून्यताम् ।।१८०।।

तव रूपमिदं मृगेक्षणे नयनालम्बनतामुपैष्यति ।
मधुपानमदो न चेदयं यदि तत्रावरणं स्वमाक्षिपेत् ।।१८१।।

चलितं, हि ततः कृतोऽपराधः, कथितं, हन्त ततः कृतोऽपराधः ।
गणयन्त्यपराधमेवमन्ये मधुपाने न हि तन्ममास्ति सह्यम् ।।१८२।।

नहि कोऽपि यतो भवेज्जनो रचयामीदृशमेकमाश्रयम् ।
विरचय्य च कापिशायनीं स्वयमेव श्रवणं विधास्यते ।।१८३।।

प्रणयं न करोमि कुत्रचिन्न ततो निष्प्रणयोऽहमीदृशः ।
यदि मामधुना परीक्षसे चषकं पूरितमेकमानय ॥१८४॥

सफलं कुसुमस्य जीवनं यदि कश्चिन्मृदुरेव नाशयेत् ।
सफलत्वमितोऽधिकं नु तद् यदि मन्ये स्वत एव नश्यति ॥१८५॥

मधु केन निपीतमाः ! कुतो मधु पीतं चषकः कुतोऽमिलत् ।
इति हन्त वदन् स धार्मिकः स्थितमेवं न ददर्श मामहो ॥१८६॥

प्रणयेन सहैव तत्त्वतो हृदयं साम्प्रतमर्प्यते मया ।
अनमीयत एव केवलं भवती किं किमितोऽर्पयिष्यति ॥१८७॥

भयमस्ति दवीयसोऽध्वनो त तथा हन्त यथाऽस्य वक्रता ।
मम साहसमुच्छिनत्त्यहो विकलं मामुपकल्पयत्यहो ॥१८८॥

पुनरेकमुपानयाऽधुना चषकं पूरितमद्य मद्यतः ।
गुरवो हि दवीयसि स्थिताः समुपैष्यन्ति न शङ्किताः पुनः ॥१८९॥

प्रणयेन कृतं यदेव मे कृतमाभाति तदेव नान्यथा ।
मदिरां च निपीय वच्मि यद् वचनं तद् वचनीयमुत्तमम् ॥१९०॥

अयमेव विधेरनुग्रहो नहि साफल्यमवाप्तवानहम् ।
सफलस्तु जनो न जीवने प्रणयस्योचितपात्रमुच्यते ॥१९१॥

न गमिष्यति धार्मिकः कथञ्चिदपि प्राणवदिष्टधर्मभृत् ।
मधुपानपरास्तथा वयं प्रचलिष्याम इतो यतः क्वचित् ॥१९२॥

मधु निन्दति धार्मिको यदा विहसन्नेव शृणोम्यहं तदा ।
नहि जिघ्रति कोऽपि तस्य यन्मधुगन्धः प्रसरत्यहो मुखात् ।।१९३।।

अयमेव कथं नु धार्मिको मदिरापाननिषेधमिच्छति ।
सह हन्त मयैव धार्मिका मदिरापानगृहेषु यान्यमी ।।१९४।।

उदरं भर तावदन्तरा सकलं धर्ममिहोपदिश्यसि ।
तव सिध्यतु साध्यमग्रतः सकलं साधनमन्यथैव ते ।।१९५।।

हृदयाय शपे तथात्मनः प्रणयायापि विशेषतः शपे ।
दयसे न तथापि मत्प्रिये मयि पश्चात्तपति स्वकर्मणा ।।१९६।।

मधुपानमिदं न लाञ्छनं मम सम्प्रत्यभवद् विशेषतः ।
त्वयि हन्त कृतः कथञ्चन प्रणयो नैष विषह्यते जनैः ।।१९७।।

गगनस्य भवेद् भरस्ततोऽपि पृथिव्या अथवा भवेद् भरः ।
हृदयाद्य सहस्व साम्प्रतं प्रणयस्यैष भरो मया धृतः ।।१९८।।

परिवर्तनमात्मनोऽभवन्मधुपात्रस्य विशेषतः स्थितौ ।
प्रथमं स्वत एव पीतवानधुना पाययति स्वतः प्रिया ।।१९९।।

मधु देहि ततस्ततोऽधिकं प्रणयं देहि न देहि चेतरत् ।
उभयं तदतीव मादृशां सफलीकर्तुमिदं हि जीवनम् ।।२००।।

परिवर्द्धितशुद्धभावयोर्हृदयं जातमिवैकमावयोः ।
हृदयस्य कृते न दूयते प्रणयार्थं मधु नन्वपेक्ष्यते ।।२०१।।

बहिरङ्गगुणेव लक्ष्यसे परमाप्ताऽसि मदन्तरङ्गताम् ।
प्रणयस्तव सम्मिलन्नयं मधुनैवं हृदयेऽपि गच्छति ॥२०२॥

अयि दुःखमितः कुतोऽधिकं भविता यन्मयि न प्रवर्तते ।
चषको यदि दत्त आत्मना मधुना तं हि विशिष्य पूरयेः ॥२०३॥

अहमस्मि महानयं लघुर्जन इत्येव वदन्ति धार्मिकाः ।
अहमस्मि लघुर्महानयं जन इत्याप्तधियो हि मादृशाः ॥२०४॥

विवशोऽपि भवन्नहं तथा चषकं केवलमेकमर्थये ।
मधु पूरितमस्तु वा न वा न तदत्राधिकतः प्रसह्यते ॥२०५॥

विहितं न कथं त्वया स्मितं मधुदानावसरे शुचिस्मिते ।
मयि सम्प्रति वीक्ष्य किं त्वया मधुपानावसरे विहस्यते ॥२०६॥

परिवार्य हि मानवं परिस्थितयः पीडितमेव कुर्वते ।
विजयो यदमीषु केवलं प्रणयेनैव तथोपलभ्यते ॥२०७॥

मधु नाम पिबन्ति ते हि ये न सहन्ते प्रणयस्य वेदनाम् ।
अपि केचन वेदनामिमां मधु मत्वैव भवन्ति निःस्पृहाः ॥२०८॥

हृदयं त्वदनुग्रहाधिकस्पृहमेतन्मम तन्वि वर्तते ।
मधु पायय वा न पायय प्रणयोऽप्येष भवेदनुग्रहः ॥२०९॥

अहरत्सुखमेव मे तथा मधुबाले भवदर्पितं मधु ।
अथवोपकृतस्त्वयाऽभवं स्मृतिमायान्ति न मद्विपत्तयः ॥२१०॥

अभिमानपरस्य मादृशः प्रणयं सीमितमाहुरुत्तमाः ।
पिबतो बत तस्य चेतना विषयेभ्यो न तथा विलीयते ॥२११॥

प्रणयो हृदयस्य केवलं मधुमच्चेष्टितमेव नास्ति सः ।
इदमेव रसायनं विनिर्मितमास्ते पुटपाकतो हृदि ॥२१२॥

निजजीवनदीपसात्मना बत निर्वाप्य खमुज्ज्वलीकृतम् ।
कठिनं खलु कर्म साम्प्रतं कठिनैः कर्मभिरेव साधितम् ॥२१३॥

अपराध्यसि तन्वि केवलं चषकादानप्रदानयोर्यथा ।
मयि वक्रविशेषवीक्षणं कलयन्ती न तथाऽपराध्यसि ॥२१४॥

अयि कश्चिदवश्यमेव पश्येदत एवं चषकोऽपि गोपनीयः ।
इह सम्प्रति सङ्कटन्त एते नियतं केचन धार्मिका इमे स्युः ॥२१५॥

बहु विस्मृतमात्मना मया प्रणयं सम्प्रति कुर्वता त्वयि ।
यदि विस्मरसि त्वमात्मना मम रे विस्मरणं कियद्गुणम् ॥२१६॥

रुचिरार्थतयैव भारती वदतो नैव जनस्य शोभते ।
मधुमिश्रणपूर्वमेव तां निगदत्येष तदैव शोभते ॥२१७॥

अहमेवमवादिषं प्रियां प्रणयादेव मनो निवर्तते ।
अवनम्य तदैव पूरितं मधु, किञ्चित् स्मितमेव साऽकरोत् ॥२१८॥

अयि जीवनदीप ! निर्वृतिं लभसे किं न समुज्ज्वलिष्यसि ।
ज्वलनाय तदर्पितं हि किं न मधु स्नेहपदे प्रतिष्ठितम् ॥२१९॥

स्मितमेष तवाहमाप्तवान् चषकेष्वाग्रह एव नास्ति मे ।
मधुनोऽप्यधिकस्तव स्मितान्मदलाभः खलु मय्यजायत ॥२२०॥

इह रे मम चेतने ! कथं मधुपानेऽपि सति प्रवर्तसे ।
बलवत्यसि चेत् प्रवर्ततां चषकं सम्प्रति पूरयाम्यहम् ॥२२१॥

मनसीदृशकाङ्क्षितं ममासीत् सकलं चेतनभावमानयामि ।
स्वयमेव पिबन्नचेतनः सन्निपतन्नेवमितस्ततो भ्रमामि ॥२२२॥

निपतन् विमृशामि साम्प्रतं कथमेवेदृशजीवनोऽभवम् ।
चषकोऽपि ममैष रिच्यते मधुबालाऽपि कथं न दृश्यते ॥२२३॥

अयि बन्धुजना मयीदृशं न दृशं कल्पयतातिसीमिताम् ।
प्रणयेन मनुष्य ईदृशो मधुपानात् पतितो न जायते ॥२२४॥

चषकोऽपि समर्पितस्त्वया मधु तस्मिन् स्वकरेण पूरितम् ।
न ततोऽपि पिबामि, कारणं स्फुटमस्ति स्मयसे न यावता ॥२२५॥

मधु पूरय वा न पूरय स्मितमापूरय नित्यमीदृशम् ।
अमृतत्वमुपैतु साम्प्रतं स्मितपानेन मदीयचेतना ॥२२६॥

चषकान् क्रमशः प्रपूरितान् मधुबाला क्रमशः परीक्षते ।
क्रमशश्च परीक्ष्य निश्चितं स्वजनं पाययते शुचिस्मिता ॥२२७॥

परिवर्तनशून्यजीवना अपि पश्यन्तु विशिष्य धार्मिकाः ।
परिवर्तितजीवनस्य मे मधुपानेन कियत् कियत् सुखम् ॥२२८॥

अयि कः प्रणयं विधित्सति प्रणयो नाम विधानमर्हति !
यदनेन मिषेण जायते मधुलाभोऽपि तदेव शोभनम् ।।२२९।।

अयि सम्प्रति वञ्चनेन किं मधुमात्रेण जनो न जीवति ।
प्रणयो बत तत्र जायतां मधुपानं सफलं ततो भवेत् ।।२३०।।

अथ धर्मधियां तथा प्रवेशो मधुशालासु विधीयते निषिद्धः ।
प्रणयं यदि चेन्न कुर्वतेऽमी मधुपानाय कथं प्रवृत्तिरेषाम् ।।२३१।।

प्रणयः करणीय इत्यसौ मधुबालाऽपि विशिष्य शंसति ।
चषकं पुनरर्धमेव सा मधुना पूरयतीत्यसङ्गतम् ।।२३२।।

अहमेव पिबामि केवलं किमु नान्ये मधुपायिनो जनाः ।
मयि रोधमयं प्रकल्पयन् नयमार्गादपि धार्मिकश्च्युतः ।।२३३।।

स्वयमर्धनिपीतमेककं चषकं देहि पुनर्न पूर्यताम् ।
बहुभिः परिपूरितैरलं परितोषश्चषकार्धतो यदि ।।२३४।।

परिकल्पनयाऽनयाऽपि चेद् हतभाग्यः प्रणयं न लब्धवान् ।
स्वयमेत्य करेण पाययेद् यदि सा तेन किमेष लप्स्यते ।।२३५।।

इह कल्पनयोपनीतया प्रणयिन्या सह वर्तते स्थितिः ।
अवलोक्य न मां विकल्पयेर्यदितोऽहं निवसामि केवलः ।।२३६।।

क्षणमेव विलम्बयन्ति ये मधुपाने न विदन्ति ते रसम् ।
उपनीतमिमं हि तत्कराच्चषकं तत्र पिबेः शनैः शनैः ।।२३७।।

प्रियया स्वयमेव पूरितो बहुवारं चषकोऽयमात्मनः ।
स्खलनैरतिमात्रखण्डितं तमिमं तत्प्रणयाद् बिभर्म्यहम् ।।२३८।।

नयनस्य निमीलनेऽपि यत्तव संदर्शनमाप्तवानहम् ।
नियतं भविताऽयमात्मना मधुयोगो विहितोऽपि कारणम् ।।२३९।।

पुनरस्मि परिग्रहीतुकामश्चषकं रक्षति मां न हन्त धर्मः ।
मधुदात्रि तथा भवेर्दयार्द्रा मम वैमुख्यमवेहि मेऽपराधम् ।।२४०।।

शुभदर्शनमेव यत्तवाभवदित्येव महन्महत् फलम् ।
अपरं किमतोऽपि वर्तते मधुपानं यदितो विधीयताम् ।।२४१।।

मधु सम्प्रति नीयते पुनश्चषकेणैव सहापनीयते ।
अथ वञ्चनया पुनः पुनः किमियत्याऽपि न तन्वि तुष्यसि ।।२४२।।

मम लोचनयोः क्षणद्वयं निजनेत्रे विनिपात्य पश्य माम् ।
प्रणयो मयि वर्तते कियत्परिमाणः स्वयमेव वेत्स्यसि ।।२४३।।

न विशालविलोचने तवापि दृशः पात्रमहं ततोऽभवम् ।
अपराध्यति तत्र केवलं चषकस्य ग्रहणं पुनः पुनः ।।२४४।।

कमुपायमितो विधाय मे हृदयं रोद्धुमुपक्रमोऽभवत् ।
मधु चेदसि दातुमुद्यता जन एष ग्रहणार्थमुद्यतः ।।२४५।।

अयि चन्द्र न दृप्य साम्प्रतं चषकं त्वां परिकल्पयाम्यहम् ।
प्रणयिन्यधुना मधूच्छलत् परिपूर्य स्वकरेण दित्सति ।।२४६।।

अयि मे परिपूर्णमेककं चषकं देहि न शङ्किता भवेः ।
मम विस्मरणेन साम्प्रतं नयने एव तवापराध्यतः ।।२४७।।

नियमस्तु नवीन एव किं मधुपानार्थमुपैसि साम्प्रतम् ।
अयि यस्य करे न विद्यते चषकस्तेन न लभ्यते मधु ।।२४८।।

तव सम्प्रति रूपवैभवं चषकेऽस्मिन्नपि हन्त बिम्बितम् ।
हृदयावधि ते मुखच्छविं मधु नेष्यत्यधुना निपीयते ।।२४९।।

अयि मां न पिबन्तमन्तरा स्वजनः कश्चन तत्र बाधताम् ।
प्रतिपादितमेव तद्वचो मधुपाने सति मक्षिकायते ।।२५०।।

मरणं सममेव जीवनं सममेव स्पृहयामि साम्प्रतम् ।
चषकं न ददासि तावता मधुमात्रेऽपि कथं विलम्बसे ।।२५१।।

अयि मोहमिमं परित्यजेर्मधु च त्वाञ्च परित्यजाम्यहम् ।
सकलं परिहाय धार्मिकैः सह नेष्यामि सुखेन जीवनम् ।।२५२।।

शिथिलैः शिथिलैर्निरन्तरं रममाणैर्नयनैः कथञ्चन ।
प्रणयो न बभूव तत्र चेन्मधुयोगेन कुतो भविष्यति ।।२५३।।

अथ कामपि नावलोकयं प्रणयी हन्त कुतोऽपि नाभवम् ।
मयि धार्मिक एष शङ्कते किमु शङ्कास्पदमस्ति साम्प्रतम् ।।२५४।।

स्वजनं परिशीलयामि यो मधु मह्यं हि समर्पयेन्नु यः ।
अथ मां परिशीलयन्नितः क्वचिदेवं ननु सोऽपि सम्भवेत् ।।२५५।।

तव मामवलोक्य किञ्चन स्मितमासोदधरे तदेव मे ।
प्रणयस्य बभूव सम्बलं चषकेऽस्मिन् मधु नास्ति नास्तु तत् ।।२५६।।

नयनैरधिपानगोष्ठि बाला ननु मामेव कृतार्थयाञ्चकार ।
मधुनः परिपूरितस्य पानं तदकिञ्चित्करमेव तत्र जातम् ।।२५७।।

अथ यावदतीव शङ्किता मधु दातुं कृतवत्युपक्रमम् ।
चषकग्रहणाय तावता मम हस्तः प्रससार तत्पुरः ।।२५८।।

श्वसिमीति ममास्ति जीवनं मधुपानं तु ममावलम्बनम् ।
स्फुटमेतदमुष्य धार्मिकस्य न वाचः परिवर्जयन्ति माम् ।।२५९।।

अहमस्मि न साम्प्रतं पृथिव्यां मम शय्या नभसि प्रयाति वेगात् ।
निपताम्यवलम्ब साम्प्रतं मां मधु कुत्रास्ति कुतश्च पानपात्रम् ।।

अहमेव पवित्र इत्यरे क्रियतां धार्मिक न प्रवञ्चना ।
बहवश्चषका यतस्ततस्तव गेहेऽपि मिलन्ति साम्प्रतम् ।।२६१।।

मयि मामवलोकय प्रिये त्वयि च त्वामवलोकयाम्यहम् ।
प्रणयस्य य ईदृशः क्षणः स मुहूर्तद्वयमेव तिष्ठति ।।२६२।।

गणयन्ति तदा ममापराधानिह सम्मिलय जना यदा कदाचित् ।
मधुपानविचेतनो यदाऽहं किमपि श्रोतुमितो न पारयामि ।।

चषकः परिपूर्यतामयं सुखदुःखानि बहूनि सन्ति मे ।
भरितं घटमानयान्तिकं मधुबाले समुपस्थितः क्षणः ।।२६४।।

विदितं वचनं पुनः पुनर्मयि दृष्टेर्विदितं निपातनम् ।
परमत्र न तन्वि तावकं विदितं किन्तु मधूपमं स्मितम् ।।२६५।।

अवनामितमेतदात्मना स्वशिरो यन्नमितं न कुत्रचित् ।
प्रणयाय तवेदमाः कृतं तदपि त्वं न विशिष्य वीक्षसे ।।२६६।।

विवशेषु किमेव पृच्छया कुत आयान्ति कुतश्च यान्ति वा ।
यदि पृच्छसि पृच्छ केवलं मधु तैः पीतमितोऽथवा नहि ।।२६७।।

कथयामि पुनः कथामिमां क्षणमेकं श्वसनाय देहि मे ।
यदि दित्ससि मध्यतश्छलन्मधुनः पात्रमथैकमर्पय ।।२६८।।

चषकः किमपेक्ष्य दीयते किमपेक्ष्यैव च दीयते मधु ।
इति मद्वचनं निशम्य सा स्मितमेवोत्तरमेकमभ्यधात् ।।२६९।।

अधुनैव विपर्ययोऽभवत्तव बुद्धेः कथमेव भामिनि ।
चषकः परिपूरितस्त्वया पुनरन्ते विनिपात्य खण्डितः ।।२७०।।

मधु तादृशमर्पय प्रिये मम मूर्च्छाऽस्त्वपुनर्निवर्तना ।
बहुविप्रकृतोऽस्मि जीवने स्मृतिभिर्विस्मृतिमेव कामये ।।२७१।।

मृदु वस्तु यदेव वीक्षसे नहि तत्स्प्रष्टुमिहोन्मना भव ।
अहमप्यभवं पुरेदृशो हृदि पश्चात् परितप्यतेऽधुना ।।२७२।।

प्रथमं प्रथमं पिबन् यदासं भयमासीन्मम मानसे गुरुभ्यः ।
अधुना तु पिबामि मुक्तबन्धं शतशस्ते गुरवो विलोकयन्तु ।।२७३।।

कवयो बहवः पुरातनाः स्वयमत्र प्रणयार्थमागताः ।
मधु तैरपि पीतमादरादितिहासस्य यदत्र साक्षिता ।।२७४।।

जगदस्ति तवेदमात्मनः सुखवृद्ध्यै बहुयत्नमाचरेः ।
मधुपायिनमीदृशं जनं तव रे पीडयतोऽस्ति किं सुखम् ।।२७५।।

बहुभिर्मधु पीतमागतैर्मधुशालां बहवः पिबन्ति च ।
न पिबन्ति भवादृशा जना ननु सन्त्येव कियन्त ईदृशाः ।।२७६।।

परिधेर्जगतः क्व याम्यहं सकलानेव विहाय पीडकान् ।
न नवीनमही मिलत्यहो न नवीनं च नभो मिलत्यहो ।।२७७।।

शतशश्चषकान्विता वयं समुपेता मधुमन्दिरे तव ।
कथमेव विलम्बसेऽधुना स्फुटमाकाशतलाद् भवोद्गता ।।२७८।।

न विदन्ति जना यदागतो मधु पीत्वाऽस्मि तथाऽहमीदृशः ।
"नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन् पदे पदे ।।"२७९।।

हृदयं प्रणयाय चेष्टते प्रणयिन्या हृदयं न वेद रे ।
मधु सम्प्रति तां विनाऽद्य मे पिबतो नैव रसाय कल्पते ।।२८०।।

अपयात कुतोऽपि दूरदेशे हृदयान्मे बहवो ममाभिलाषाः ।
मधुना परिपूर्य पात्रमेषा पुनरादाय ददौ तदर्धमेव ।।२८१।।

पिबतस्तु जनस्य जीवनं भविता नष्टमवश्यमेकदा ।
अपिबन्निह धार्मिको भवान् स कथं नाशमुपैति साम्प्रतम् ।।२८२।।

मृदु न श्रुतमात्मनः प्रियाया यदि चेत् कोकिलकण्ठतर्जि गानम् ।
अथवा मधु नैव पीतमस्याः सुकरात् तर्हि नितान्तवञ्चितोऽस्मि ।।

अथ चेन्न भवेद् भवत्समीपे कुसुमं तर्हि मम प्रिये समाधौ ।
स्मयमानमुखो भवेः श्रुतं ते कुसुमानि स्मितमेव वर्षतीति ।।२८४।।

चलितो मधु पातुमिच्छया स्वगृहादस्मि न रुन्धि साम्प्रतम् ।
तव रोधमिमं सहे न रे चषको भ्रश्यति हन्त मत्करात् ।।२८५।।

चषकं परिपूर्य साऽवदत् स्मितपूर्वं परिपीयतामिति ।
चषकेण सहाहमक्षिपं मधु तृप्तेरतिमात्रलाभतः ।।२८६।।

अथ धार्मिक लोकनिन्दया मधुपानाद् विरतो भवामि किम् ।
यदि मामवरोद्धुमीहसे कथय त्वं यदसौ न पाययेत् ।।२८७।।

शतशोऽपि जनैस्ततान् पथः समतिक्रम्य तवान्तिकेऽभवम् ।
मिलिताऽपि रहःस्थलेऽसि चेद् वितरस्येव कथं न दर्शनम् ।।२८८।।

यदि मृत्युरुपस्थितोऽन्तिके गमनाय क्वचिदन्यतो वदेत् ।
सह तेन गतो हसन् भवेर्हसदेवं जगदेव विस्मरन् ।।२८९।।

इह यावदहं त्वयार्ऽपितामपिबं रे मृदुकापिशायनीम् ।
त्वमलभ्यतमाऽभवस्ततो मम नाद्यावधि मत्तता गता ।।२९०।।

बहुशो बत सन्ति विद्युतो बहुशो मेघगणोऽपि दृश्यते ।
बहुशः कथमद्य मादृशा मधुशालामचिरेण नागताः ।।२९१।।

गरलामृतयोर्गुणद्वयी मरणं जीवनमित्युदीर्यते ।
चषकस्य निपीय वारुणीं म्रियते नापि च नापि जीवति ।।२६२।।

मधु पायय वा न पायय त्वमिमान् दूरयितुं न शक्नुषे ।
चषकं न च देहि देहि वा त्वमिमान् पीडयितुं न शक्नुषे ।।२६३।।

गत एव दिने जना इमे सदकुर्वन् हृदयेन मामहो ।
पृषदेकनिपानतोऽभवं परमद्यैव जनेषु मद्यपः ।।२६४।।

इत एव रुचिस्ततो न काचित् स्थिरतां कोऽपि न चेदृशीं बिभर्तु ।
अहमेष गते दिने किमासं परमद्यैव दिने स्वयं किमस्मि ।।२६५।।

यतसे कथमेव रे निबद्धुं मतबन्धे पुनरेव मामिदानीम् ।
मम कश्चन नास्ति सम्प्रदायो मधुशालासु यदाकदाचिदासम्।।२६६।।

लिखितं तव नाम नाम मे लिखितं नास्ति ततोऽभवत् किमु ।
अनिमन्त्रित एव साम्प्रतं मधुशालासु पिबाम्यहं मधु ।।२६७।।

यदि दर्शकवर्ग एष तेऽभूत् सरसां नृत्यकलां विलोकनेच्छुः ।
न कुरुष्व विलम्बमेवमेवं पदयोर्नूपुरयोजनां विधेहि ।।२६८।।

मधुयोषिदभीप्सया कया मधु मे दत्तवतीति वेद्मि नो ।
अपिबं तदभीप्सया कया बत तस्मिन् समयेऽपि वेद्मि नो ।।२६९।।

मधु पातुमहं व्रजामि जाने भविता द्वारि विनिश्चितोऽवरोधः ।
अथवा भवितैव कोऽप्यवश्यं विदितो मां परिचाययिष्यतीति ।।

मम नाम तृषा विलक्षणा न पिपासेत्यभिधीयतामियम् ।
न शमं समुपैति पानतः क्रमशो वद्र्धत एव मूलतः ।।३०१।।

अहमस्मि पिपासुरीदृशः परिपूर्णं चषकं वहन्नपि ।
न पिबामि विना तदाज्ञया बत धिङ् माञ्च पिपासुताञ्च धिक् ।।

असि केवलधूमसञ्चयो न घनश्याम मदन्तरुत्थितः ।
तव वारिकणेन हन्त यत् परितप्तो न गतोऽहमार्द्रताम् ।।३०३।।

अवगुण्ठनमेतदस्ति ते वदनाच्छादनकारि भामिनि ।
अपसारय पश्य पश्य रे प्रणयी हन्त तवान्तिके स्थितः ।।३०४।।

यदि जीवनमस्ति काङ्क्षितं मधुशालां कुत एषि साम्प्रतम् ।
अवलोकय मर्तुमुद्यताश्चलिताः स्मो वयमद्य दूरतः ।।३०५।।

हृदये हृदयस्य सङ्गमः प्रणयो नाम कयोश्चिदुच्यते ।
वणिजेव न हानिलाभयोरिह काचिद् गणना विधीयते ।।३०६।।

मम केनचिदेकदाऽभवद् बहु सौहार्दमिति स्मरामि रे ।
न तदा मदिरागृहोऽमिलद् विरहस्यैष च हेतुरावयोः ।।३०७।।

अपि नाम भवन्तु पूरिताश्चषकाश्चेदिह नास्ति हन्त सा ।
अपिबन्नहमेष तैरिमां मधुशालां स्नपयामि साम्प्रतम् ।।३०८।।

अवलोकय धार्मिकं जनं नयने पश्य कुतो नयत्ययम् ।
कथमेष बिभेति, किं स्वयं मधुशालामयमागतोऽधुना ।।३०९।।

स्थित एष विलोकयन्निहाहं स्वयमागत्य गताऽपि हन्त बाला ।
चषको मम रिक्त एष किं वाऽथ तथा पूरित एष नाम किं वा ।।

कथयन्ति कियन्त एव यन्मधुशालासु मिलन्ति मादृशाः ।
अपि चेदुपलभ्य मादृशानपि न प्राप्स्यसि मां गवेषयन् ।।३११।।

चषकग्रहणेन धर्मनाशः सति पाने तु भवेत् तवापि नाशः ।
निजनाशमपीहसे ततश्चेदिह रे संसदि तिष्ठ मादृशानाम् ।।३१२।।

प्रणयं परिहृत्य जायते न विचारोऽत्र विचारयेर्यदि ।
विषयं तमितो विचारयन् मधु पीत्वाऽऽप्नुहि निर्विचारताम् ।।

मम विक्रयणाय पानसौख्ये चषकः सम्प्रति केवलोऽवशिष्टः ।
अथ सम्प्रति विक्रयं विदध्यां यदि चेदस्य पिबामि हन्त कस्मिन् ।।

मधुगन्ध उदेति मन्मुखादिति कृत्वा विनिवारितो गृहात् ।
फलमस्य निवारणस्य मे प्रतिलब्धा स कुतोऽपि धार्मिकः ।।३१५।।

अमिलच्चषकः क्वचित् स्वयं क्वचिदभ्यर्थनयाऽपि नामिलत् ।
इह नाम परिस्थितिद्वये न वयं किञ्चन भेदबुद्धयः ।।३१६।।

विवशाऽसि न दास्यसीति चेन्मधु को हेतुरिहोदपद्यत ।
अथ मौनमिहोत्तरं नु ते स्मितमप्युत्तरमेकमर्प्यताम् ।।३१७।।

अहमेष न वञ्चितः परं मधुशालैव कलङ्किता त्वया ।
अहमत्र पिपासुरागतोऽथ पिपासुः पुनरेष याम्यहम् ।।३१८।।

तव हन्त कृपा मयि स्फुटं मरुभूमाविव वर्षमामृतम् ।
तपनादिह दुर्विधेरहो बहुकालात् प्रतपामि तां विना ।।३१९।।

अपि नाम मम प्रतीक्षया फलितं यत्त्वमिहागता क्षणम् ।
अवगुण्ठनतस्तवानने स्वपिपासां कलयामि वर्धिताम् ।।३२०।।

समजायत येन हेतुना मयि ते स्नेह इति भ्रमो मम ।
तमहं परिशीलयन्नहो मधुभिन्नं न लभे समग्रतः ।।३२१।।

वचने त्रुटयः पदे पदे व्यवहारे त्रुटयः पदे पदे ।
अपराधशतं न मादृशां गणयेः केवलमर्पयेर्मधु ।।३२२।।

क्षुधितस्य पिपासितस्य मे क्व मनस्त्वामपहाय गच्छतु ।
मम साध्यमसि त्वमेव रे मम रे साधनमप्यसि त्वमाः ।।३२३।।

कलयन् हितमात्मनोऽधुना मधुशालां समुपेतवानहम् ।
यदि नाम ततोऽपि वार्यते क्व ततो यामि न वेद्मि साम्प्रतम् ।।३२४।।

प्रथमं मम नाम्नि घोषिते मधुलाभावसरेऽहमुत्थितः ।
मधुनो ग्रहणाय धार्मिकः समुपागादभवच्च मेऽग्रतः ।।३२५।।

प्रणयो हृदि मेऽभवद् यदा सहजस् 'तस्य' कृपाविशेषतः ।
'उमरस्य' कवेः पथा तदा रचितेयं खलु कापिशायनी ।।३२६।।

मधुपानकृतां न कश्चन व्यतिरिक्ता मतिरस्ति नः प्रिये ।
विषमप्यमृतं भवेन्न वाऽप्यमृतं वा विषमस्तु तन्न वा ।।३२७।।

गणिताऽस्ति दशस्वहो दशानां दशमी सैव मिलेन्नवाथ भुक्ताः ।
परिपूरय पात्रमद्य बाले विषमप्यस्त्वथवाऽमृतं ततोऽस्तु ॥३२८॥

नियमः कथमेष पानगोष्ठ्यां विहितो मे विनिवारणाय बाले ।
नहि वेत्सि किमेव मत्तमत्ता मधुशालामुपयान्ति पातुकामाः ॥

विमृशन्ति जना विलोक्य मामयमुन्मत्त इव प्रतीयते ।
विमृशामि विलोक्य तानहं प्रणयस्तैर्विहितो न जीवने ॥३३०॥

नवसोमरसेन धार्मिको मधुना मत्तसदृशः प्रमाद्यति ।
उभयोः कियदन्तरं यदा मुदभेदानुभवोऽवतिष्ठते ॥३३१॥

अतिवर्तत एष साम्प्रतं मधुपानावसरो न चेच्छ्रुतम् ।
तदवेहि पिपासवो वयं न वयं केचन हन्त भिक्षवः ॥३३२॥

अविनाशि न विद्धि जीवनं पिब यावज्जगतीह जीवसि ।
जगतस्तव प्रस्थितस्य तन्मधुलाभस्तु भवेन्न वा भवेत् ॥३३३॥

मम नास्तिकता कुतो यदा यदहं विश्वसिमीश्वरे दृढम् ।
प्रणयिन्यथ तत्पदे स्थिता मधु किञ्चित् प्रणयान्न भिद्यते ॥३३४॥

प्रणयादतिरिक्तमस्ति किं रे मधुमूल्यं यदहं तदर्पयानि ।
धनिनामितरद्धनं यदस्मात् प्रणयादभ्यधिकं न कल्पयामः ॥३३५॥

नहि वेद कथं जना इमे मधुपानेन परित्यजन्ति माम् ।
भविता बत कोऽपि धार्मिकः क्वचन च्छन्न इतो नु निर्दिशन् ॥

यशसा प्रसृतेन भूयसा कवितानिर्मितिजेन जायते ।
हृदये सुखमात्मनः परं रचना काचन तादृगस्तु चेत् ।।३३७।।

अनपेक्षितमारटन् बहु व्यथयन् वाग्मितया सचेतसः ।
कविरेष कुतोऽपि नीयतामथवा याम इतः क्वचिद् वयम् ।।३३८।।

चषके मधु मे समर्पयन्त्या क्रियतेऽन्येषु कथं नु दृष्टिपातः ।
कथमित्थमपात्रमस्मि जातस्तव दृष्टेर्वद तन्वि मेऽपराधम् ।।३३९।।

सहपानविशेष इष्यते यदि ते पूरय पात्रकं मम ।
अथ नेष्टमपूर्ण एष मे चषकस्तिष्ठतु काऽपि न क्षतिः ।।३४०।।

क्वचिदेव परिस्खलन् क्वचित् स्वयमुत्थाय पदात् पदं चलन् ।
अहमध्वनि याम्यनारतं परिपूर्णं यदि साऽर्पयेन्मधु ।।३४१।।

चषकस्य भवेत् प्रपूरणं मधुना वारमथैकमेव चेत् ।
प्रणयाय शपे पुनस्ततो मधुशालामुपयामि न स्वतः ।।३४२।।

मधुमात्रमहं पिबामि पानं मम सञ्जीवनमस्ति जीवनस्य ।
मधुनि क्वचिदुत्तमे ह्यलब्धे रजनीमेष पिपासितो नयामि ।।३४३।।

अधुनैव निवर्तितोऽस्मि पीत्वा सति लाभेऽपि पुनस्ततो न यामि ।
बहुवारगतं प्रति स्वभावादपि जायेत जनस्य ह्यवज्ञा ।।३४४।।

मधु वारमहो कियन्न पीतं न कियद् वारमदस्तया न दत्तम् ।
अधुनाऽपि पिपासुता मदीया न परं शाम्यति वर्धते क्रमेण ।।३४५।।

मधु नीतमिहान्तिमक्षणे मयि जातः सुमहाननुग्रहः ।
अपि नाम कदापि नीयतां मम धन्यस्य समाधिगेहके ।।३४६।।

निवसत्यथ सा कुतः कुतो मधु नीत्वा बत मह्यमर्प्यते ।
नहि वेद कदाचिदावयोः प्रणयः कोऽप्यभवत्पुरातनः ।।३४७।।

चषकेण परस्परं मया चषकस्य क्रियतेऽद्य सङ्गमः ।
हृदयद्वयसङ्गमस्य यत् प्रथमा रीतिरियं मता मम ।।३४८।।

न बहिर्जगति क्वचित् सुखं सकलं दुखमयं हि जीवनम् ।
जन एष विकीर्णतां गतः स्वसुखस्रोत इतो गवेषयन् ।।३४९।।

मधु हन्त ममाभवत् प्रिये प्रणये कश्चन जीवनाश्रयः ।
विवशत्वमिहात्मनः कियत् कथयेयं तदलाभसङ्गतम् ।।३५०।।

न बहिर्जगतः प्रवर्तते नियमः पानगृहेषु कश्चन ।
निकटस्थमुपेक्ष्य दूरतः स्थित एवात्र जनोऽनुगृह्यते ।।३५१।।

स्वजनानवलोक्य वारितान् हृदि दूये तव सद्मनोऽग्रतः ।
उपलभ्य ततः प्रवेशमप्यधुना किञ्चन नैव पीयते ।।३५२।।

चषके भरितेऽवतिष्ठते रिपुता नापि न चापि मित्रता ।
समभावमुपेत्य पीयते समतैव व्रतमस्ति पायिनाम् ।।३५३।।

मिलनाद् वपुषोर्न केवलं मिलनं जायत एव मन्मते ।
मधुपानप्रसङ्गसङ्गतं मिलनं जायत एवमर्थवत् ।।३५४।।

सकलं स्वमभीष्टमात्मना कथमप्येव न वाग्भिरुच्यते ।
यदि किञ्चन लक्षयेः स्वयं मधु मे सार्थकतामियात् ततः ॥३५५॥

चषकं परिगृह्य येऽप्यमी मुदिता यान्ति न वेद्मि के च ते ।
चषकग्रहणं न केवलं न तथा मादृशपायिलक्षणम् ॥३५६॥

मुदिते हृदि यद् विधीयते प्रविषण्णे च विधीयते नु यत् ।
उभयोर्महदन्तरं स्फुटं मधुनः पायिन एव जानते ॥३५७॥

नयनप्रतिबिम्बरञ्जितं स्मितसम्भिन्नमहो निपीयते ।
मधु यत् सुखमर्जितं मया किमु तन्मोक्षपदेन लक्ष्यते ॥३५८॥

यदि गर्हितमस्ति चेन्मधु क्षणमास्वाद्य वदेत् स धार्मिकः ।
मदमीलितदृक् स तत्क्षणं विरतो गर्हणकर्मणो भवेत् ॥३५९॥

ग्रहणेन च पानकर्मणा मधुनो विप्रतिपत्तिरीदृशी ।
नहि काचिदुदेति मानसे यदिदं नाम परित्यजाम्यहम् ॥३६०॥

अयमस्ति न धर्मनिर्णयो यदिहान्यैः क्रियतां विचारणा ।
प्रणयो विषयस्तु मादृशैर्मधुपानावसरे विचार्यते ॥३६१॥

गृह एव विनाश्य निर्मिता मधुशाला यदिह भ्रमादपि ।
मधुयोषिदुपेत्य निर्जने मधुना मां नु कृतार्थयेदिति ॥३६२॥

मधुमूल्यमिति स्वतोऽर्प्यते प्रणयस्तुभ्यमिमं गृहाण रे ।
मयि ते भविता कियानयं नहि जाने न च हन्त चिन्त्यते ॥३६३॥

क्षणमेतदवेक्षितं त्वया मयि वर्षं मरुभुव्यभूदिव ।
प्रणयो हृदये कथं ततोऽङ्कुरितः स्यान्न ममाधुना प्रिये ।।३६४।।

न सुखं मधुनि प्रशंसिते न च दुःखं मम रे विनिन्दिते ।
तदहो तव जायते कथं मयि पानाद् विरते मतिभ्रमः ।।३६५।।

मधुना चषकः किमेष पूर्णः किमिमं सह्यमुपागताऽसि दातुम् ।
अयि देह्यविलम्बमुत्तरं मे न पिपासुः समुपैति यावदन्यः ।।३६६।।

कृपया विनिवार्यतामितोऽन्यो मम पाने न भवेत् कुतोऽपि बाधा ।
चषको मम पाणितः कदाचित् प्रविकीर्णे मनसि स्खलेदिदानीम् ।।

बहु पीतमिहैव जीवने मरणान्ते भवितैव हन्त किम् ।
चषकस्य कृते कियानयं कलहः सम्प्रति जायते वृथा ।।३६८।।

विधितोऽपि निषेधतोऽपि वा नहि बद्धा मधुपायिनो वयम् ।
क्वचिदेव पिबाम आदरात् क्वचिदेवञ्च शयामहे सुखम् ।।३६९।।

प्रणयः सहजा प्रवृत्तिरेषा जगतो जन्तुषु दृश्यते प्रकामम् ।
मधुने तत आग्रहो न एवं स्फुटबाधाः परिहर्तुमेव तस्मिन् ।।३७०।।

न जनः शृणुयात् कुतोऽपि कश्चिन्मधुसिक्तं वचनं मदीयमेतत् ।
अविवेकवशंवदः कदाचिन्मम तात्पर्यमसौ हि नावगच्छेत् ।।

इह चेच्छलमस्ति वञ्चनाऽस्ति ततो याम इतः कुतो वयम् ।
सकले जगतीह दृश्यते व्यवहारश्छलवञ्चनामयः ।।३७२।।

तव सद्मनि किं प्रवेशलाभे सुतरामस्मदपेक्ष्यते प्रमाणम् ।
जगतो व्यतिरिच्यते च कस्मात् तव गेहव्यवहार एष नूनम् ॥३७३॥

मधु नाम पिपासवेऽर्प्यतां परितृप्ताय न दीयतां वृथा ।
त्वदभीष्टमवैमि नाधुना नियमोल्लङ्घनमेव तद् भवेत् ॥३७४॥

परिलक्ष्यस एव मादृशस्त्वमपीत्येव मुदेऽभवन्मम ।
चल सम्प्रति दर्शयाम्यहं मधुशालां यदि पातुमिच्छसि ॥३७५॥

नियमाचरणात् समादरो नियमोल्लङ्घनतो निरादरः ।
जगति व्यवहार एष रे मधुशालासु न हन्त दृश्यते ॥३७६॥

इह यो मम जीवनाश्रयः स हि मेऽजायत मृत्युकारणम् ।
प्रणये यदिहामृतं मतं विषमप्येव ततोऽस्ति किन्न तत् ॥३७७॥

धृतिमेव परित्यजन्त्यमी मधुनाम्ना श्रुतिमागतेन ये ।
मधुपानरतं त एव मां प्रसहन्तां कथमेव धार्मिकाः ॥३७८॥

परिपूर्णमथोच्छलन्मधु प्रपिबन्तोऽश्नुवते हि यत् सुखम् ।
नहि तत्तव पाणितः प्रिये प्रतिलब्धे चषकेऽर्धपूरिते ॥३७९॥

चषकाङ्कितपाणयस्तव प्रणये विस्मृतसर्वसौख्यकाः ।
मधु पातुमुपागता वयं स्वपिषि द्वारि नियुज्य रक्षिणः ॥३८०॥

विरमन् विरमन् विरम्य कश्चिच्चषकं तत्र गृहीतवान् स्वहस्ते ।
अपिबन्नपिबन् निपीय कृत्स्नं क्रमशःसम्यगहो चकार रिक्तम् ॥३८१॥

न मिलेदथवा समानधर्मा क्वचिदन्यत्र मिलेन्न चिन्त्यमेतत् ।
चल वर्त्मनि कश्चिदेक एव त्वमुपादाय करे स्वपानपात्रम् ।।३८२।।

क उपागत एष आवयोरिह मध्ये सुमहान् विभेदकः ।
मम किं भविता न पूरितश्चषको दूर इतोऽद्य तिष्ठतः ।।३८३।।

विरतिः कथमेव जायतां मधुपाने सति सम्प्रवर्तिते ।
सततं च तृषा प्रवर्धतां मधुपानं सततं प्रवर्तताम् ।।३८४।।

अविनीतमिदं विजल्पितं किमपि त्वन्मनसे न सम्मुदे ।
सकलं तदपि श्रुतं त्वया स्मितकिञ्चिच्छुरिताधरोष्ठया ।।३८५।।

फलितं मदभीष्टमास्त्वया यदिदं स्वीयकरान्मधूर्पितम् ।
प्रखराऽग्निशिखेव हन्त मे क्रियतां किन्नु तृषा न शाम्यति ।।३८६।।

अहमेव न हन्त कश्चन प्रथमस्त्वन्निकटे तृषागतः ।
बहुभिश्चषकार्थिभिः पुरा कथितं श्रेयसि केन तृप्यते ।।३८७।।

तृषितेषु ममापि यत्त्वया गणना संविहिता मधुस्मिते ।
तदहो सुमहाननुग्रहस्तव किं प्रत्युपकार इष्यते ।।३८८।।

मधुनो मिलितादिहास्ति रे बहुलाभः किमु कोऽपि मत्कृते ।
अहमेष पिपासुतां वहन् कथमद्यावधि वञ्चितस्त्वया ।।३८९।।

स्वजनैर्विधिना च सर्वतश्छलितं मां छलयस्यहो कियत् ।
उपलब्धमरे कियत् सुखं छलयन्त्या वद मामितस्त्वया ।।३९०।।

व्यवहारपराङ्मुखस्य मे बहुभिर्लोकपरीतमानसैः ।
मधु केवलमेकमिष्टतां गतमुद्यत्करुणा न चेष्टसे ॥३६१॥

मधुपानमिदं तृषां शमं नयतीत्येव मया श्रुतं जनात् ।
मधुपानसहोद्गतां तृषां प्रशमं को हि नयेदिहोच्यताम् ॥३६२॥

करमर्पयितुं न शक्यते कथमप्येव जनानने तथा ।
मधु निन्दितमस्ति चेदिदं मधुपानार्थमिहाग्रहः कुतः ॥३६३॥

सुधया समतां नयन्ति ये मधुनस्तैर्न निपीतमादरात् ।
मधुना समतां व्रजेत् सुधा बत सामर्थ्यमिदं ततः कियत् ॥३६४॥

विहिताऽऽसनबन्धधीरता मधुगोष्ठीषु सुदूरतो मया ।
तदपि क्षणदृष्टिपाततस्तृषितं मामवगच्छति स्म सा ॥३६५॥

सुरभिः प्रससार यस्य नो न यदुद्यानमलञ्चकार च ।
स्फुटतां तदियाय तेन किं विफलं तत् कुसुमस्य जीवनम् ॥३६६॥

शतशो हृदयं विकीर्णतां गतमेतन्मम, चिन्त्यते ततः ।
प्रणयो मधु हन्त खण्डिते चषकेऽस्मिन् कथमेव तिष्ठतु ॥३६७॥

स्थगयन्ति प्रमत्त इत्यमी स्वगृहद्वारमवेक्ष्य मां जनाः ।
प्रविशामि स एव संकुलां मधुशालामनिवारितोऽधुना ॥३६८॥

सुलभं मधु नैव योगिनां मधुमत्यामपि वर्तते स्थितौ ।
प्रतिवासरमेव लभ्यते तदिदं .प्रीतिपरैर्नु मादृशैः ॥३६९॥

मधु जीवनमस्ति मादृशां किमपि द्रव्यमिदं न वर्तते ।
हृदयं खलु नः प्रमाणमित्यत इत्थं नहि चिन्त्यते वृथा ।।४००।।

परिणाममवेक्ष्य नारभे निजकार्यं, किमु धार्मिकोऽस्म्यहम् ।
मधुपानमिदं हि मत्तता परिणामोऽस्य तदिष्टमेव मे ।।४०१

सुखकल्पनया न पीयते न तदाज्ञाऽपि मया शिरोधृता ।
मधु तां प्रति कुर्वदुन्मुखं प्रणयं प्रापयतीति सेव्यते ।।४०२।।

क्वचिदुत्स इतो न लभ्यते सुविनष्टा प्रणयापगा किमु ।
प्रणयेन विनाऽपि जीवनं किमु रे जीवनमस्ति वा मरुः ।।४०३।।

सहजा प्रकृतिः प्रवञ्चना तव किं कैश्चन सत्यमुच्यते ।
मधु नाम यदर्पितं त्वया स्वकराद् वञ्चितकं हि किन्नु तत् ।।४०४।।

न विचार इतो विधीयते क्व विचारः क्व च मादकं मधु ।
तव नाम करादुपागतं मधु सत्यञ्च शिवञ्च सुन्दरम् ।।४०५।।

प्रकीर्णकम्

अरे मालाकारा यदि किमपि वाचं शृणुथ चेन्
मदीयं वक्तव्यं भवति कटु यद्यप्यतिमृदु ।
अहं युष्मान् जाने रचयथ गुणैरेव बहुभिः
स्रजं, तत्सूच्यग्रैर्हृदयमथ भित्त्वा सुमनसाम् ।।१।।

करिकुम्भविदारणक्रियायामसि चेत् केसरिराज सिद्धहस्तः ।
तव हन्त यदाकदाचिदल्पे मृगयूथेऽपि कथं नु चित्तवृत्तिः ।।२।।

किं कश्चिदीदृक् कविरस्ति लोके तं डिण्डिमैरत्र गवेषयामः ।
कवित्वनिर्माणविधेर्विलासाद् यः कालिदासात् पदमेकमग्रे ।।३।।

स्रोतोरूपा कविमुनिमुखान्निर्गताऽऽस्फोटच चेतो
गत्युत्कम्पा समभवदियं कालिदासं प्रपद्य ।
माघादिभ्यः समयवशतोऽक्षय्यवेगं गृहीता
यास्यत्येषा कियदवधितः काव्यधारा न जाने ।।४।।

कर्णक्लेशकरो बहिर्जगति मे जागर्ति कोलाहलः
श्रान्तोऽहं शयितुं कुतोऽपि विजने सर्वात्मना कामये।
एषा हन्त मनोव्यथां जनयति प्रायेण मध्ये स्थिति-
र्नीडं देह्यथवा विशालगगनाभोगं विमुक्तं कुरु ॥५॥

लभन्त इह ये पदं त्वदुपसेविनां मध्यतोऽ-
नुगृह्य विहितास्त्वया जगति धन्यधन्या नु ते।
वयं तदनुगामिनश्चरणरेणवः केवलं
कृपापवनवेल्लिता निकटतां लभेम क्वचित् ॥६॥

सन्त्येके तृषिताः सुखोपरिसुखावाप्तेर्न तृप्यन्ति ये
तान् प्रत्येष जनो बिभर्ति नितरां कारुण्यपूर्णं मनः।
सन्त्यन्ये तृषिताः स्पृहाविरहिता येषां तृषा जीवनं
तान् प्रत्यस्य जनस्य सन्तु विगलद्बाष्पाः प्रणामाः शतम् ॥७

त्वं काचिन्नभसि प्रभातसमये स्निग्धस्मितार्द्रा प्रभा
पूर्वस्यामरुणारुणेव किमपि द्रागुत्थितोन्मीलसि।
एको भग्नमनोरथोऽश्रुसरसीस्नानार्द्रपक्षश्लथः
क्लिश्याम्येष कुलायकष्टकुहरे लीनो निमीलन्नहम् ॥८॥

केचिन्मानसमुद्धता निरगमंस्त्वद्दत्तमाल्याङ्किता-
स्त्वन्निर्देशचमत्कृताः कतिपये सम्प्राविशन् सम्भ्रमात्।
पाणौ शुष्यदशेषपुष्पशिथिलस्त्वद्दर्शनैकाशया
स्थानं हन्त न लब्धवानहमिह त्वन्मन्दिरद्वार्यपि ॥९॥

कमल कमल भृङ्गमागतं न स्थिरयसि किं कमलं न वर्तसे त्वम् ।
अयमरसिक ईदृशोऽथवा किं त्वयि कुरुते न विरस्य दृष्टिपातम् ॥१०॥

डिम्भश्चूषति निर्दयं प्ररुदितः शुष्कं स्वमातुः स्तनं
वत्सो धेनुमुखस्थमेककवलं भोक्तुं समुत्कण्ठते ।
तूष्णीमाश्रयते च पञ्जरशुकः पक्षाग्रमास्ये दधत्
पश्यन् दृश्यमिदं गृहस्य कृषको निद्राति नान्तःशुचा ॥११॥

घर्मव्याकुलगोशरीरमृदुलच्छायां बकः सेवते
काकः किञ्चन रारटीति महिषीशृङ्गाग्रदेशे स्थितः ।
पङ्के क्षीणजले च शूकरवधूः सङ्गाहते पल्वलं
लेढि श्वा निजमेव तालुपतितं लालाजलं लोलुपः ॥१२॥

हृदन्तर्ध्वान्तारिं झटिति शमयन्ती सुकृतिनां
नटन्ती धीराणामधिरसनरङ्गस्थलि सदा ।
असल्लोकभ्रान्तिर्दुरितगणशान्तिर्मधुमती
त्वदीया मन्मातश्चरणनखकान्तिर्विजयते ॥१३॥

स्वजन इति मया य एव नित्यं परिकलितो नितरां जनः स एव ।
पथि मिलित उपेक्ष्य मां प्रयाति पृथिवि भवेः शरणं यथा विदीर्णा ॥१४॥

यातेऽस्तं तरणौ निजां तरणिकां विश्रम्य विश्रम्य कोऽ-
प्यास्ते संवलयन्निजैः प्रशिथिलैर्गात्रैर्युवा नाविकः ।
तीरोपान्तभुवि प्रकीर्णकबरीदृश्यप्रसन्नानना
तत्पत्नी मलिनाङ्कशायिशिशुका स्निग्धं तमुत्प्रेक्षते ॥१५॥

बाह्योद्यानगतं प्रशान्तसलिलं श्यामं सरः स्यात्ततो
जीर्णं पर्णकुटीरमारचय तत्तीरे, दिनान्तक्षणे ।
स्निग्धं दीपकमञ्चलेन परितो रक्षन्त्यतीवादरात्
काचित् स्यान्मलिनाम्बरा नववधूर्मुग्धा विशन्ती शनैः ॥१६॥

तालं कञ्चन शीर्णपत्रनिचयं प्राचीनमभ्रंलिहं
कृत्वा तत्र विशालचञ्चुपुटकं वाताहतिक्षोभितम् ।
श्रान्तं निष्करुणं प्रचण्डतपनव्याक्षिप्तरोमावलिं
गृध्रं स्थापय जीर्णपक्षतिपुटं पश्यन्तमाराद् दिशः ॥१७॥

हसथ मयि विलोचनस्थ बाष्पा हसथ पुनर्मम भाग्य एव यूयम् ।
तदिह यदधुना न जीवनं मे प्रणय इति प्रथितं हि यस्य नाम ॥१८॥

द्विगुणोऽपि समुन्नतो रसालादयि तालद्रुम वर्तसे तथापि ।
बृहदुन्नमनेन किं फलं ते न फलं ते बत किञ्चिदस्ति हृद्यम् ॥१९॥

पथिक पथिक याहि पुष्पवन्यां मम वचनं पुनरेकमेव धेहि ।
पदतलपतिता हि पुष्पमाला अधिकमहो व्यथयन्ति कण्टकेभ्यः ॥२०॥

चपलाऽसि लते सुसङ्गमस्ते न बतास्त्येष विशालबाहुबन्धे ।
प्रणयान्धदृगीदृशी न जाने कमुपालिङ्ग्य वनेषु वर्धिताऽसि ॥२१॥

स्थितोऽपि च्छायायां सुरविटपिनस्तापविकलः
सुरस्रोतस्विन्यास्तटमुपगतोऽप्येष तृषितः ।
गतोऽप्यद्रिं मेरुं धनविरहितो नाम भविता
न जाने केनाहं क्वचिदभवमाः शापित इह ॥२२॥

शब्दः पुष्पात् क्वचन मृदुलः क्वापि वज्रात् कठोरः
सूर्यः क्वापि प्रखरकिरणः शीतलः क्वापि चन्द्रः ।
वह्निर्भूत्वा प्रदहति जलं जीवनं क्वापि धत्ते
शान्तं क्वाप्याश्रमपदमथ क्वापि कष्टो वनान्तः ॥२३॥

केयं गाङ्गतटोपलब्धवसतेरप्युद्गतेयं तृषा
कोऽयं स्निग्धवटावनीरुहतलेऽप्यस्त्येव तापो महान् ।
संसारेऽपि जिजीविषोदय इयान् कोऽयं वृथाऽऽडम्बरः
श्रान्तोऽहं ननु सूत्रधार ! नटनान्निर्वर्तनं कामये ॥२४॥

मया किं याप्येत क्षणमपि न सम्प्रीतिकलितं
किमस्यां न स्रोतः प्रणयमधुरं सैकतभुवि ।
पथि स्निग्धच्छायः क्वचिदपि न किं हन्त विटपी ।
न कोऽपि स्निग्धो मे किमिह मिलितो वा सहचरः ॥२५॥

कश्चिद् रम्यं खगकुलकलं पूर्णमुद्यत्तरङ्गं
प्रेक्ष्य स्वान्ते सुखमनुभवेत् प्रौढचेतास्तडागम् ।
मन्ये जीर्णं जलविरहितं ग्रीष्मघर्माभितप्तं
तुष्यत्काकं किमपि न सरश्चित्तमामोहयेद् वा ॥२६॥

व्याप्तः क्षारसमुद्र एष परितः संसारनामा तव
त्वं चेदत्र रिरंसया समधिकां प्रीतिं भजेथा यदि ।
त्वां रे चित्त वदामि भावभरितेनाभ्यन्तरेण त्वया
कश्चित् क्षीरसमुद्र एव कृतिनाऽन्वेष्टव्य एतावता ॥२७॥

सद्यत्नैः सुतनिर्विशेषमधुना याऽऽधारबन्धादिभि-
स्तोयैः स्नेहभरेण चानवरतं येनाभवद् रक्षिता ।
तं त्यक्त्वा वनपो वनावनिमिमां जातेऽद्य पुष्पोद्गमे
सोऽयं याति सुदूरमाः! विलसितं वैधात्रमालोक्यताम् ॥२८॥

विकसितं हृदि यस्य जनस्य न प्रणयपुष्पमहो हृदि शोभनम् ।
वद न तस्य वृथा किमु जीवनं मरणमेव हि तस्य वरं न किम् ॥२९॥

सकललोकमनःपरितोषको न खलु कश्चिदुपाय उदीक्ष्यते ।
स्वहितमेव विधेयमतो बुधैः किमु करिष्यति दुर्मुखदुर्जनः ॥३०॥

बहोः कालादार्तिप्रगुणितपरीतापविकले
रसाभावानार्द्रे विपदनलदग्धेऽतिविषमे ।
मदीयेऽस्मिन्नन्तर्हृदि मरुपरीते क्षणमपि
क्वचित् कृष्णाम्भोदो विलसतु घनीभूय सरसः ॥३१॥

महोन्नतनृपासनस्थितिरितो न मेऽभीप्सिता
न चापि मदविह्वलद्विपवराधिरोहः प्रियः ।
कदाचिदिह जीवने क्षणमपि स्थितः स्यामहं
त्वदीयचरणाम्बुजद्वयतले प्रभो शीतले ॥३२॥

वंशं पृच्छ धनञ्च पृच्छ सुतरां विद्यामितः पृच्छ वा
यत्किञ्चिन्मयि तद् वदासि न ततः सङ्कोचलेशो मयि ।
किन्त्वेतत् परिपीडितं नु हृदयं लब्धं मयाऽहो कुतो
मित्रैतत् कृपया न पृच्छ शतशः प्राणैरिदं रक्षितम् ॥३३॥

नो लभ्यन्ते क्वचन दिगिभास्तेषु का स्यात् प्रवृत्तिः
कारुण्यं ते वलति करिणीष्वार्द्रता ते मृगेषु ।
अस्मिन् लोके विलसतु कुतः शास्त्रशार्दूल किञ्चित्
पाण्डित्यं ते खरकररुहां साम्प्रतं वर्धितानाम् ।।३४।।

यस्त्यक्तः स त्यक्तो यस्तु गृहीतो गृहीत एव तु सः ।
मानधनानामीदृग् भवति मतिर्वञ्चनाहीना ।।३५।।

आगच्छन्तं नयनविषयीभूतमेकाकिपान्थं
प्रत्याश्वस्ताः प्रणयकलिताः कम्पशून्याः प्रभाते ।
दूरादेव प्रकटितमुदां तादृशां पक्ष्मलानां
ते सम्पाताः स्मृतिपरवशं मामलं पीडयन्ति ।।३६।।

अद्यायास्यत्युदयति विधावित्युपेतान्तराशो
मेघारम्भे शिथिलशिथिलः प्राणवैषम्यरुद्धः ।
किञ्चिन्म्लानो विघटित इव क्षीणसद्भावमूलो
द्वारि स्थायाः कथमपि दृशोरस्ति कश्चिद् विरामः ।।३७।।

कं प्रत्येष वदेयमद्य निखिलं चित्तस्थमेतावता
पीडाग्निक्वथितं कषायमधुरं स्नेहेन किञ्चित्कटु ।
तूष्णीम्भावमितो गृहाण मुखरे मद्वाणि हृत्कोटरे
श्रोतव्यं ननु यस्य नैव स जनः श्रोतुं समुत्कण्ठते ।।३८।।

धूमोद्गारमवाप्य दृष्टिविरसं चिन्ताश्मशानस्थलात्
ज्योतिर्दीपगणादवाप्य निहितात् काङ्क्षासमाधावथ।
दौर्भाग्यानिलनेत्रवारिमिलितं सान्द्रासु सन्ध्यास्वदो
नो जाने क्वचिदन्तरन्तरतमे यत्किञ्चिदुज्जृम्भते ॥३९॥

सम्पूर्णाय न देव काचिदुदिता क्षुद्रे मदन्तस्तमे
त्वत्कारुण्यसुधामहाजलधये तीव्रातितीव्रा तृषा।
एतस्याः प्रशमाय केवलमलं तस्माद् विकीर्णं पृषत् -
च्चेन्नो दास्यसि तत्कथं विरमतादेष प्रतीक्षाग्रहः ॥४०॥

नाहं त्वत्करनिर्गतान् सुखकणान् भोक्तुं समग्रान् क्षमो
नो वा दुःखकणांस्तथा क्षणमपि स्वीकर्तुमेवोत्सहे।
दुःखं वाऽपि सुखं न यत्र सहजं त्वद्दृष्टिपातोल्लसत्
त्वत्कारुण्यमिहैकमेव तृषितो यत्किञ्चिदभ्यर्थये ॥४१॥

द्वारि द्वारि गतो गवेषितुमपि त्वां नो लभे कुत्रचित्
प्राप्तस्त्वं तु सदा निलीन इव मच्चेतोगृहाभ्यन्तरे।
यच्छुष्कं परितप्तमर्थरहितं सङ्कीर्णमासीत्पुरा
तत्पूर्णं विचलत्तरङ्गमधुना विस्तारि मे भासते ॥४२॥

मत्स्पर्शाद् विकृतिं भजेत विगलेद् वा मत्कराग्रादियं
स्याद् वा त्वन्मनसोऽनुकूलमपि नो मत्कृत्यमित्यन्ततः।
त्वल्लावण्यनिरीक्षणप्रचलितान्तर्वृत्तिरप्यन्यथा
नो शक्नोम्यपनेतुमेष बत ते भीत्येव वक्त्रावृतिम् ॥४३॥

मद्भारमुद्वह पितेति दयस्व किञ्चिन्मातेति निःसर गृहाद् गृहिणीति वक्ति
आकर्णयन् स्वपिमि हन्त तथापि निद्रा नायाति चेतनतरोऽपि जडो भवामि ।

तालीभिः प्रामथीभिर्मथित इव हृदि स्वावरोधासमर्थो
व्यङ्ग्यव्यक्तस्वचेष्टां स्त्रियमपि कलयन्नुद्धतं ताण्डवाय ।
नव्यो मथ्नन्निव द्रागधिगतविततिं व्योम स व्योमकेशः
स्थानादस्थिप्रधानाद् गिरिवरशिखरस्थादधःस्थादुदस्थात् ॥

नृत्यारम्भविलम्बनासहतयोद्यद्दम्भसंरम्भिणो
ज्वालस्फोटकवोष्णतो विदधतो वो जागती जागराम् ।
दृश्या धूमतया पुनः परिणता पूर्णाय पूर्णा भवे-
दग्नेर्नग्ननटस्य भालनयनाद् वैयञ्जनी पद्धतिः ॥४६॥

मूले बोधितरोः क्षणं समुदयत्प्रज्ञाप्रभाभास्वरं
क्षुभ्यत्कामपराजयाप्तदृढतालक्ष्यप्रतिष्ठाभरम् ।
किञ्चित्पायसपानवीतसुतपःशैथिल्यमुद्यत्स्मितं
वक्त्रं सौम्यमुपास्महे परिलसन्मौनस्वरं सौगतम् ॥४७॥

यत्प्रीतिः कलुषौघनाशनकरी सौभाग्यलभ्या जनै-
रज्ञानान्धनिवारणैकनिपुणा चान्द्री प्रभा यत्स्मृतिः ।
यद्गीतिः स्वजनोपकारनिरता तं प्रज्ञया सङ्गतं
शास्तारं करुणागुणार्द्रहृदयं ध्यायन्ति कल्याणिनः ॥४८॥

रागद्वेषविकीर्णविश्वजनतासन्मार्गसन्दर्शिनी
कारुण्यामृतपूर्णशान्तहृदया सद्‌भावसम्पूरिता ।
चञ्चत्तोरणमण्डिते शुभवने पर्णावृते वा गृहे
साम्याक्षिप्तदृगुत्तमा विजयते ताथागती चेतना ॥४९॥

अन्योन्यस्मिन् स्फुरदभिनवाद्वैतसम्बन्धभावं
तत्त्वं साक्षान्मिलितमिव वागर्थयोस्तत्त्वदृष्ट्या ।
यद् वा साम्यं हिमगिरिसुताशर्वयोर्भूतये न-
स्तत्सम्भूयात् किमपि कवितातर्कयोः सामरस्यम् ॥५०॥

समस्यापूर्तयः

प्राचीनं सुविशीर्णतीर्थघटनं दूरे स्थितं त्वां जना-
स्त्यक्त्वा साम्प्रतमुत्तमा अपि कृशं संयान्त्यमी पल्वलम् ।
ग्रीष्मे पल्वलशोषके सति कुतो यास्यन्ति, तद् हे सरो
दैन्यं मा भज चिन्तयैकमधुना कालस्य लीलायितम् ।।१।।

बालं प्रौढयतस्तथा गमयतः प्रौढं जराजीर्णतां
जीर्णं मारयतो मृतं कलयतो भस्म श्मशानस्थले ।
सर्वं मृत्प्रकृतौ विनीय हसतः क्रीडाजुषः प्राणिभि-
र्बालस्यास्य धिगस्तु जीर्णजरितं कालस्य लीलायितम् ।।२।।

यत्पूर्णे विधुमण्डले नयनयोर्दिव्यं समाकर्षणं
यत्स्निग्धस्फटिकाभकान्तिवदने गण्डैकदेशोद्गतम् ।
यद्वा भागवतीकथादिवि लसत्कादम्बिनीडम्बरं
तत्सर्वं ननु भाग्यलभ्यमुदितं कालस्य लीलायितम् ।।३।।

येनोद्यानकपालकेन सुचिरं ग्रीष्मेषु पूर्णैर्घटै-
राहृत्याम्बु निषेवितोऽद्य महतीं शोभां भजस्याम्र हे !
दष्टः कोटरशायिना स तव तत् सर्पेण शेते मृत-
स्त्वल्लीलायितमस्ति वैतदथवा कालस्य लीलायितम् ।।४।।

संव्याकीर्णं घनपरिमिलद्गाढतामिस्रभारं
सद्यःस्नातं हिमकरमुखे लोललोलं ललन्तम् ।
श्यामश्यामं विलसति नभश्चुम्बिनं मत्तमत्तं
बिभ्राणेयं कचपरिणतश्रीभरं मेघमाला ।।५।।

यातो ग्रीष्मः शममिह महाकालसंज्ञस्त्विदानीं
प्राप्ता प्रावृट् परिणतमनस्तापहर्त्री तथापि ।
निर्गच्छेत्सा मम नयनतो वा न वा वारिरूपा
स्मृत्याख्ये या नभसि सरसोद्भिद्यते मेघमाला ।।६।।

नृत्याभ्यासे प्रगुणितमुदां बर्हिणां पाठशाला
सन्तप्तानां हृदयनयनोन्मादिनी कापि हाला ।
सङ्गीताढ्या कजभरचिता काऽपि चण्डालबाला
श्यामश्यामा विलसति नभःप्राङ्गणे मेघमाला ।।७।।

येनोद्भासितमङ्गणं नरपतेः काचस्थितेनाधिकं
तस्यास्त्येव हि दीपकस्य सुमहल्लाभान्वितं जीवनम् ।
एकान्ते ज्वलितः समाधिनिकटे दीनस्य कस्याप्यहो
किं तस्यापि न दीपकस्य जनुषः क्षुद्रोऽपि लाभो महान् ।।८।।

यत्रागत्य जलानि रोधमधिकं संयान्त्यहो सर्वथा
न स्नानं न च पानमिच्छति जनो यत्रागतो दूरतः ।
किं तन्नाम सरो नु वर्ण्यमथवा कुल्या हरन्ती तृषां
सर्वस्वं हि समर्प्य किन्नु जनुषस्तस्या न लाभो महान् ॥९॥

यच्चित्ते परितापजर्जरतरे लोलेऽतिलोलायिते
जार्गर्तिं क्षणमादधाति नितरामेकान्तशैत्यं दधत् ।
तत् केचित् प्रणयं वदन्ति बहवः सद्भावमन्ये दयां
दैवीं हन्त वयं विवेकविकलास्तत् किं न जानीमहे ॥१०॥

शम्भोर्मस्तकवर्तिदेवतटिनीधारासुधास्नापितं
देवेन्द्रादिसमस्तनिर्जरशिरःस्रग्रेणुभिश्चित्रितम् ।
सर्पाधीश्वरभालदिव्यमणिभिर्नीराजितं दीपकै
र्वाणीपादयुगं मदीयहृदये नीले सुवर्णायते ॥११॥

मरालबकयोस्तथा च पिककाकयोरेकतो-
दधेः परमपेयता शशिनि वा कलङ्कस्थितिः ।
द्विजिह्वमुखसङ्गतिर्मलयजे सुवर्णेऽथवा
मणौ सुरभिहीनता बहुबहूनि शल्यानि मे ॥१२॥

सरोवरमुदन्वता खलमुदारहृत्साधुना
कुशीलमनुरागिणा कृपणकार्यमुत्साहिना ।
उलूकमुदिताक्षिणा खगवरेण सामान्यतो
जनस्य समदृष्टिता जनयतीव शल्यानि मे ॥१३॥

चन्द्रप्राप्त्यै तृषितमकरोद् रत्नराशिं समुद्रं
पादौ चक्रेऽतिशयकठिनौ बर्हिणां श्रीभराणाम् ।
काली कस्मान्मधुरमधुरा कोकिला निर्मिता वा
सन्त्युच्छीले रचयितरि वा त्रीणि शल्यानि मे वै ॥१४॥

नालङ्कृतीर्न च गुणान् न रसान् न रीती-
राकर्षणाय वह भारमिवात्मनि त्वम् ।
दीनार्तमूकजनदुःखभरा भवेश्चे-
न्नापेक्ष्यतेऽद्य तव वाणि कलाविलासः ॥१५॥

ग्रीष्मे कदाचिदुपगत्य वने हतायां
व्याधेन केनचिदपेतमुदो मयूर्याम् ।
नृत्यप्रियस्य दिवसा बत प्रावृषेण्या
यास्यन्ति केन विधिना नु शिखण्डिनस्ते ॥१६॥

शयानं मां श्लिष्ट्वा किमपि मृदु कर्णेऽभिदधती
किमित्येवं वेगान्मयि विगतनिद्रे सति तथा ।
अदत्वा गच्छन्ती निजपरिचयं स्नेहसरसी-
जले सद्यःस्नाता कमलमुखि का नाम भवती ॥१७॥

क्षणं कार्यव्यग्राऽपि मयि विनिपात्य स्मितरुचि-
स्फुटां दृष्टिं क्वापि व्रजति पुनरायाति निकटम् ।
तव स्पर्शं स्पर्शं मृदुचरणचिह्नाङ्कितभुवं
विनिद्रस्तिष्ठामि प्रणयमयि का नाम भवती ॥१८॥

निमीलत्सालस्याञ्जनजनितसौभाग्यनयने
शरज्ज्योत्स्नास्फीताम्बरवरपरीते स्मितभरे ।
मदीयायां चेतोभुवि मरुनिभायां क्षणमहो
कृपाम्भो वर्षन्ती कुसुमकलि का नाम भवती ॥१९॥

तवेदं ज्योत्स्नाभिर्घटनमभवत्किन्नु वपुषः
स्फुरन्ती मच्चेतस्युदयति घनीभूततमसि ।
ममेमां व्याकीर्णां परिचलति नैराश्यरजनीं
प्रभातामाधातुं यदिह बत का नाम भवती ॥२०॥

समुद्रादुत्पन्ना किमु तरलरश्मिस्फुटलसत्-
समग्राश्लिष्टाङ्गी सजलमणिलेखा विलसति ।
नभोदेशात् काचित् तडिदिव विसृज्य स्वमखिलं
पुरस्ताच्चाञ्चल्यं किमु लसति, का नाम भवती ॥२१॥

क्षणं यस्मिन्नेषा मम पतति दृष्टिर्ननु तदा
समन्तात् सङ्गीतस्मृतिरुदयति स्वात्मवसतौ ।
तवेदं रूपं वा किमु किरणतन्त्रीपरिणतं
किमप्याद्यं वाद्यं किरणमयि का नाम भवति ॥२२॥

भवन्ति श्रीमन्ति क्वचिदथ कुरूपाण्यपि यतो
मृदुत्वं वस्तूनि क्षणमथ कठोराणि दधति ।
चमत्कारं किञ्चित् कलयदतिमात्रं किमपि तत्
कवीनां सिद्धानामिह जयति वाणीविलसितम् ॥२३॥

रसाले मञ्जर्यो मधुरमधुपारावकलिताः
समन्ताद् द्योतन्ते प्रमुदितमिदानीमुपवनम् ।
परं सामग्र्येण स्फुरति नहि तावन्मधुरहो
न यावत् प्रारब्धं भवति पिकवाणीविलसितम् ।।२४।।

अलङ्काराः सम्यग् विदधतु समे झङ्कृतिभरं
रसानामुद्रेको विलसतु तथा वा प्रतिपदम् ।
असंसिद्धं मन्ये सकलमिदमर्प्येत नहि चेत्
कृपासिन्धौ तस्मिन् सफलमपि वाणीविलसितम् ।।२५।।

कियद्वारं क्रौञ्चा इह न निहता व्याधविशिखैः
परं काव्यं रामायणमिदमिहैकं विरचितम् ।
स कालः स द्रष्टा स च हृदयवान् सा च करुणा
समेत्य द्योतन्ते यदि वलति वाणीविलसितम् ।।२६।।

असन्तृप्तस्तावद् विचरति जनो वन्यपशुवत्
परान् हिंसन् लोकान् निरतिशयदौर्बल्यलुलितान् ।
न यावत् कारुण्याञ्चितमुदयति स्नेहकलितं
हृदि क्षेत्रेऽक्षुण्णं ललितकविवाणीविलसितम् ।।२७।।

देव्या वाचः क्षणपरिमिलद्दिव्यदृष्टिप्रसादा-
च्चिते ज्योतिः किमपि सुकवेरान्तरं प्रोज्जिहीते ।
तस्मिन् काले विरतनिखिलद्वैतमूलप्रपञ्चः
सोऽत्येति द्राक् स्थितिमतितरां न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ।।२८।।

स्नात्वाऽऽपूर्य सुमृष्टहेमकलशं स्वच्छेन गङ्गाम्भसा
तीरोपान्तविरूढपुष्पकलिका उच्चित्य मन्दस्मितः ।
कश्चित् त्वां सह नेतुमिच्छुरधुना सङ्केतयत्येष रे
प्रातर्द्वारमुपागतः स्वशयनादुत्तिष्ठ किं चिन्त्यते ॥२९॥

मध्येधारमुपागताऽस्ति तरणिर्झंझा च संवर्धते
व्याकीर्णः शिरसि स्थितोऽतिविरसं गर्जन् घनाडम्बरः ।
व्यालुप्ताश्च दिशो न हन्त तटभूः संदृश्यते दूरतः
कोऽयं वक्ति शनैर्मम श्रवणयोस्तिष्ठामि किं चिन्त्यते ॥३०॥

न येन पठितं मुदा सुकविवाङ्मयं शोभनं
न येन शिथिलीकृतः प्रियकलत्रमानग्रहः ।
न येन च निषेविताऽनवरतं सतां सङ्गति-
र्न तेन बत चेष्टितं करपुटेन पातुं सुधाम् ॥३१॥

आघ्रातो न च केनचित् स्मितमधुद्राक्क्षीणरागद्युतिः
प्रोन्मादं जनयन् नवोद्यदतनुस्वाध्यायशिक्षोद्यतः ।
पातुं चेदुपलभ्यते तदधरो यत्नेन केनाप्यहो
उच्छिष्टामथ कः सुरैः सहृदयश्चेष्टेत पातुं सुधाम् ॥३२॥

स्रग्दामाङ्कितमस्तकः पथि पदं धत्ते शनै रासभः
काकश्चाम्रफलं पचेलिममहो निर्मक्षिकं खादति ।
दृप्तः श्वा करलालितश्च युवतेरङ्के निमीलत्यलं
द्रष्टुं ये क्षमतां भजन्ति ननु ते पश्यन्तु धीराः क्षणम् ॥३३॥

सञ्जातो बत चन्दनेन कलहो यत् कर्दमस्याधुना
भेकः कश्चिदितो विवेकनिपुणो मध्यस्थतां प्राप्तवान् ।
ब्रूते पङ्कनिमग्न एष लभते साम्यं न तच्चन्दनं
साकं किञ्चन कर्दमेन तदिदं शृण्वन्तु धीराः क्षणम् ॥३४॥

अद्यत्वेऽपि दशाननोऽपहरति क्रूरोऽबलां जानकी-
मद्यत्वेऽपि मुनेर्वधूः पदरजःस्पर्शं तवाकाङ्क्षति ।
अद्यत्वेऽपि सभागता द्रुपदजा क्षीणाम्बरा वेपते
कार्यं ते बहुलं तथापि नितरां शेषेऽद्य शेषे कथम् ॥३५॥

त्वय्यायत्तमिदं महत् कृषिफलं ग्रामाङ्गनानां तथा
प्रीतिस्निग्धविलोचनानि विफलान्युज्जाग्रति त्वां विना ।
भूवध्वा हरिताम्बरं रचयितुं रे मेघ कालो ह्ययं
शेतां श्यामवपुः सुखं जलनिधौ त्वं नाम शेषे कथम् ॥३६॥

प्रच्छन्नं स्वकुलायनिर्मितिधिया श्येनः समागच्छति
क्षुद्रक्रोडविषाणभग्नगतयः शुष्यन्ति कुल्यास्तथा ।
काका दुःसहमारटन्ति परितः पक्वाम्रबद्धेक्षणा
उद्यानं वनपाल नश्यति झटित्युत्तिष्ठ शेषे कथम् ॥३७॥

त्यक्त्वा हानेर्भयमिह समुद्घाट्य सर्वान् गवाक्षान्
द्वारं रुद्धं निजकरयुगेन क्षणं संविभेद्य ।
पश्येरन्तः स्थित इत इतो दूरमुत्क्षिप्य दृष्टिं
व्याप्नोत्येष स्फटिकतरलः कोऽपि भासां विलासः ॥३८॥

येषां दृष्टिः किमपि सरसं प्रेक्षितुं चेत् सकामा
ते प्रेक्षन्तामिदमुपगताः किञ्चन प्रेक्षणीयम् ।
यत्रास्ते नाणुरपि तमसः काशिकेत्यट्टहासो
यासां कासाञ्चन न हि भवस्यैष भासां विलासः ॥३९॥

ताम्बूलश्रीः स्मितसुखचिता हन्त भूयात् स भासः
प्रेक्षावद्भिर्ननु कतिपयैरुच्यतां वा स हासः ।
नृत्यन्तीनामलमधिततं मन्मते कालिदासो
वाचो देव्याः कररुहरुहां दिव्यभासां विलासः ॥४०॥

नित्यं भानुस्तपति गगने प्राणिनः प्राणवन्तः
संक्रीडन्ते ललितललितं शेरते शीर्णखेदाः ।
एतत् सर्वं वदत, सुहृदः कस्य भासां विलासः ?
येन ग्राहात् सभवित इभस्तस्य भासां विलासः ॥४१॥

शोभेतापि भृशं सरोवरगतं पद्मं प्रवालप्रभं
कस्याश्चित्तिलकं ललाटकलितं राजेत् प्रवालप्रभम् ।
प्रीतिं किन्तु विशेषतो जनयति क्षीणोऽपि नीलेऽम्बरे
रात्रेरङ्कगतः शिशुः पुलकितश्चन्द्रः प्रवालप्रभः ॥४२॥

कालादेव बहोरुदग्रतमसा छन्नं मनो व्योम मे
क्षीणस्यापि तव प्रसादकिरणस्यास्त्येव पात्रं नहि ।
अद्यत्वेऽपि परं त्वदुन्मुखमिदं सन्तिष्ठते किन्त्वहो
द्योतेतैव कदापि तेऽत्र करुणाचन्द्रः प्रवालप्रभः ॥४३॥

शेते कश्चित् कठिन-कठिने भूमितल्पे निरन्नः
कश्चित्पूर्णोदर इह पृथुश्वासशब्दं सुखेन ।
दीपावल्यः क्वचन सदने क्वापि गेहेऽन्धकारः
संसारोऽयं किमिति तमसां वाऽस्ति भासां विलासः ॥४४॥

कश्चिन्मूकः सदसि विदुषां याति वाचालतां चेत्
कश्चिद् दीनः क्वचिदपि जगन्नाथतामेति चेद् वा ।
तत्राश्चर्यं न किमपि समुज्जृम्भते यत्र साक्षाद्
वागीश्वर्याः स्मितमणिभुवां दिव्यभासां विलासः ॥४५॥

प्राचीनं सरसं तथा सुमधुरं दैवी गिरेति श्रुतं
मन्ये धन्यतमाः पठन्ति जगति प्रीत्या जनाः संस्कृतम् ।
येषां संस्कृतमेव केवलमहो अन्तश्चरं प्राणितं
ते के ? हन्त विशेषयेयमधुना शब्दैर्नु कैस्तानहम् ॥४६॥

यद् भोजेन्द्रसभासु विक्रमनृपस्यान्तःपुरे यच्च वा
सिद्धं श्रीकलितं बभूव नहि तन्मन्यामहे संस्कृतम् ।
यत्तु प्रीतिविशालहृत्सुमनसां क्षुत्पीडितान्तर्जुषां
क्षुद्रे पर्णगृहे फलान्वितमभूत्तन्मन्यते संस्कृतम् ॥४७॥

वात्याभिर्न कदापि किञ्चिदथवा योऽभूत् समुन्मूलितो
न च्छिन्नो गगनागताभिरथवा सौदामिनीभिश्च यः ।
शाखाभिः ? फलपत्रपुष्पभरिताभिर्वर्धमानो ह्ययं
सुस्निग्धः सुमहावटः सुरगवीनामा सदा सेव्यताम् ॥४८॥

वाल्मीकिर्मधुरः कषाय उचितो व्यासः सुलावण्यवान्
श्रीमद्दीपशिखाकविः कथय स स्याद् वा रसः कीदृशः ।
यैरास्वादित एष पानकरसः सत्संस्कृताख्यः सुखं
तेषां तृप्तिकरी कथं नु भविता सा क्रीतदासी सुधा ॥४९॥

स्कन्धानीतहलः पुरो हलधरः शून्यैर्निपातैर्दृशोः
क्षेत्रे क्वापि प्रतीक्षते प्रतिदिनं यां घर्मकष्टाकुलः ।
सा सौभाग्यभरा नवोदयवती सन्नद्धकट्यम्बरा
काऽपि श्यामघटा प्रसादसरला रक्षेज्जगज्जीवनम् ॥५०॥

क्षुभ्यत्सैन्यपदाहतिप्रलुलितग्रामाटवीकं क्वचित्
खाद्याभावविषण्णदीनरुदितापूर्णान्तरं वा क्वचित् ।
आर्द्रो वा नितरां कठोरहृदयो वा स्यादिदानीं जनः
कः सम्प्रेक्ष्य न जायते प्रविकलः खिन्नं जगज्जीवनम् ॥५१॥

ये सौधेषु वियद्विचुम्बिषु सुखं पर्यङ्कगाः शेरते
ये वा काञ्चनसूक्ष्मसूत्रवसनैराच्छादिता भारते ।
निर्गत्य क्षणमेव विस्तृतबहिर्ग्रामेषु पश्यन्तु ते
पर्णावासगतं विशीर्णवसनं जीर्णं जगज्जीवनम् ॥५२॥

केचिन्नाम वदन्तु कर्णसुखदं गीतं जगज्जीवनं
केषाञ्चिच्च मतेषु रूपमधिकं सौम्यं जगज्जीवनम् ।
अस्माकं तु मते यतः सुखकरं गीतादि सञ्जायते
तत् प्रेमैव समर्पणाख्यमुचितं भावो जगज्जीवनम् ॥५३॥

यस्य सर्वमुदरे प्रलीयते सन्ततं जगदिदं युगक्षये।
क्रीडया स रमयन् व्रजाङ्गनाः कोऽपि गोपतनयो नमस्यते ।।५४।।

जीवनं सुबहुदुःखदूषितं हन्त हन्त जलबुद्बुदोपमम्।
क्षेपणाय निजजन्मजन्मनां कोऽपि गोपतनयो नमस्यते ।।५५।।

स्वर्गः कश्चन नाम तिष्ठतु परं सम्मोहमुत्पादयन्
प्रायो बुद्धिमतां विवादविषयो मोक्षोऽप्यसौ तिष्ठतु।
अस्माकं तु मनोज्ञलोलकबरीच्छायासमासेविना-
मिष्टं पात्रकमेकमेव मधुनो यत्प्राप्य नाप्यं परम् ।।५६।।

वासप्रीतिकराण्यनेकभवनान्याकाशचुम्बीनि नो
दत्तानि प्रियमण्डनानि ललितानाङ्गानि नापि त्वया।
किञ्चापीश्वर तावकी सुमहती जाता कृपा मय्यहो
दत्तं पीडनशीलमेव हृदयं यत्प्राप्य नाप्यं परम् ।।५७।।

सर्वस्वं मनसो हृतञ्च हृदयं चट्टाकमुत्पाटितं
सायं कुत्रचनान्तरायबहुले देशे तया प्राप्तया।
दृक्प्रान्तेन शनैरहो प्रमदया सव्यङ्ग्यमामन्त्रितं
प्राप्तं तत्क्षणमेव तन्ननु मया यत्प्राप्य नाप्यं परम् ।।५८।।

विकचकमलसङ्कुला खगाढ्या
त्वमसि सरस्युदयत्तरङ्गरम्या।
अहमिह परिशुष्यदम्बुकष्ट-
स्तपनतटाक उदग्रपङ्कराशिः ।।५९।।

नभसि परिलसद्वरेण्यकान्ति-
स्त्वमसि हि काचिदमन्द्रचन्द्रलेखा ।
अहमिह पतितः पथि प्रकीर्णः
पदघटितो बत प्रस्तरस्य खण्डः ।।६०।।

भृशमुपवनिका स्फुरत्प्रसूना
त्वमिह मधुव्रतसम्भृता सुगन्धिः ।
अहमिह विजने स्थितो विशाखो
विकटपशुव्रजधर्षितः कुवृक्षः ।।६१।।

शरदि सुरसरित् त्वमुन्मदिष्णु-
श्चलितमरालभरा प्रसन्नतोया ।
अहमिह परिकीर्णकण्टकोग्रः
परममपेयजलो घनान्धकूपः ।।६२।।

श्रुतिमधुरपरिष्कृतस्वरागा
प्रगुणितमोदभरा सुमूर्च्छना त्वम् ।
भृशमहमपराधलब्धरोधः
स्वरविरसो बत विस्मृतो विरागः ।।६३।।

———

कालिदासप्रशस्तयः

साक्षात्पानं सुरपुरभुवो देवलभ्यं सुधायाः
सद्यःस्नानं किमपि यमुनागङ्गयोः सङ्गमस्य ।
प्रेमालापश्रवणमथवा हारि वध्वा नवायाः
स्निग्धच्छायातरुतलशयः कालिदासप्रसङ्गः ।।१।।

बाष्पोद्गारः प्रियविरहजो मेघदूतं न किं वा
सौभाग्यं वा किमपि सुफलं किं न कौमारकाव्यम् ।
स्नेहोद्गारः प्रियमिलनजः किं न शाकुन्तलं वा
कारुण्यं किं न च रघुयशोवन्द्यकाव्यं व्यनक्ति ।।२।।

प्रातःकालो मधुरमधुरोऽस्त्यादिकाव्यस्य कर्ता
श्रीमान् व्यासो जयति जटिलश्चण्डमध्याह्नकालः ।
साहित्याख्ये नभसि सरसश्चन्द्रगुप्तैकशोभः
सायङ्कालो परमसुखदो विद्यते कालिदासः ।।३।।

लोके सम्यक् तृषिततृषिते ग्रीष्मतापाभिभूते
कारुण्याख्ये सुखदसलिले शोषमाप्ते समन्तात् ।
आषाढस्य प्रथमदिवसो मेघदूतैकदृष्टिः
सन्तप्तानां शरणमधुना केवलं कालिदासः ॥४॥

माघो देव्याः कुटिलकुटिलभ्रूचितः सत्कटाक्षो
बाणो वीणाक्वणनमुखरः सालसो वाग्विलासः ।
प्रीतिस्निग्धं सरसमृदुलं लक्षितं पुण्यभाग्भि-
स्ताम्बूलश्रीविरलखचितं सुस्मितं कालिदासः ॥५॥

न्यासे न्यासे किमपि सरसं नूपुरक्वाणरम्यं
लज्जास्निग्धं ललितललितं चित्तसम्मोहकारि ।
मन्दं मन्दं सहजमृदुलं यौवनस्पर्शभाज-
स्तत् कस्याश्चिद् गतिविलसितं लक्ष्यते कालिदासः ॥६॥

वाल्मीकेर्मुखमण्डलादभिनवा सद्यःप्रसूताऽभवद्
या संवर्धनमाप दर्भकवलैर्व्यासाश्रमे वाङ्मृगी ।
तामागत्य च कालिदासहरिणः संस्पर्शसम्मीलिता-
मेकान्तेषु यदाकदाचन मुहुः शटङ्गैरकण्डूयत ॥७॥

वागर्थमृण्मयलसत्सुभगैकपात्रा दूरे तमो विदधती भुवनप्रकीर्णम् ।
स्नेहैकजीवनमुदारसुवर्णहृद्या श्रीकालिदासकविदीपशिखा विभाति ॥

कुत एष इहागतः सुगन्धिः पवनः कश्चन शीतलश्च मन्दः ।
किमितो मधुशालिकाऽस्तिकाचित् किमितो वा कविकालिदासगोष्ठी॥

दिव्ये कोलम्बकरविसुतोद्भासिते यत्र तन्त्री-
गङ्गाधारोद्वलनविशदे सद्विपञ्चीप्रयागे ।
काप्यव्यक्ता सुतनुरक्तताम्यासमद्यापि लोके
श्रूयन्ते ते सरिगमपधाः कालिदासस्वरूपाः ।।१०।।

यस्मिन् रामकथा सुधारसमयी स्वर्दीर्घिका राजते
यस्मिन् काव्यकुमारसम्भवरसोल्लासोऽस्त्यसौ यामुनः ।
यस्मिन् किञ्च सरस्वतीविलसितं सुव्यक्तमेतावता
सेव्यो नाम प्रयाग एष सततं श्रीकालिदासाभिधः ।।११।।

एक गङ्गा खलु हिमगिरेर्निर्गता तुङ्गश्रृङ्गा-
देका गङ्गा समजनि मुखादादिकाव्यस्य कर्तुः ।
एका गङ्गाऽऽविरभवदहो वाङ्मयी कालिदासा-
देका गङ्गा सुजनहृदयात् स्नेहतोया प्रवृत्ता ।।१२।।

मैथिलकोकिलविद्यापतिप्रशस्तयः

काव्योद्याने चिरमुदयते कालिदासो वसन्तो
बाणाद्यास्ते प्रकृतिसरसाः स्नेहवन्तो रसालाः ।
तस्मिन् हृद्या विलसति सुधास्पर्धिनी कोकिलस्य
श्रीमद्विद्यापतिकविपतेर्मैथिली गीतमाला ।।१।।

त्वामासाद्य प्रथितयशसं तीरभुक्तिः प्रपेदे
यत्साफल्यं न खलु तदहो गोचरं वाङ्मयस्य ।
यद् वा विद्यापतिरिति तथा मैथिलीत्यत्र शक्या
लब्धं कैश्चित् कथमपि न सा तर्कजा भेदबुद्धिः ।।२।।

स्निग्धायां मिथिलाभुवि स्वयशसा यस्योद्गमोऽभूत् समं
सेको यस्य च पावनैः समभवद् गाङ्गैर्जलैर्निर्मलैः ।
स्वादे पर्वणिपर्वणि प्रगुणितं निर्मक्षिकं सादरै-
र्विद्यापत्यभिधानमिक्षुरसितं पुण्याधिकैः पीयते ।।३।।

सान्द्रा दीपशिखाकवेर्भणितिषु प्रीतिः क्षणं त्यज्यतां
शैथिल्यं जयदेवगीतसुदृढश्रद्धाभरे नीयताम् ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैर्माधुर्यमिश्रैरयं
श्रीमान् मैथिलकोकिलः कविवरो विद्यापतिर्गीयताम् ॥४॥

त्वत्कीर्तेर्लतिका निरन्तरसमुद्भिन्नप्रसूनोत्तमा
यावत्तिष्ठति तीरभुक्तिजनताहृन्मालयसंवर्धनी ।
तावन्मैथिलवाङ्मयी नववधूर्लज्जैकभूषोल्लसद्-
भावोल्लासवती दिगङ्गणभुवि प्रीत्या नरीनृत्यतु ॥५॥

भारत-शार्दूलविक्रीडितम्

मैत्रीभावनयाऽऽगताय हि वयं बुद्धोपदेशस्थिता
लुब्धायातिथये प्रतापशिववीराणां सुपुत्रा वयम् ।
पुष्पादप्यतिकोमलानि हृदयान्यस्माकमेतावता
वज्रादप्यतिकर्कशाणि परितो जातानि चीनैः समम् ।।१।।

सिंहो हन्त कथं कथं कथमहो युष्माभिरुत्थापितः
किं नो वेत्थ हिमाद्रिकाननमसावाक्रम्य सन्तिष्ठते ।
क्षुद्रा मैव पलायिता भवत रे वज्रोपमैः स्वैर्नखैः
सम्प्रत्येष मदान्धचीनकरिणः कुम्भस्थलं गाहते ।।२।।

धिक् तान् सम्प्रति कामिनीकचभरच्छायासु ये शेरते
धिक् तान् ये बत काञ्चनध्वनिगुणं सर्वस्वमामन्वते ।
धिक् तान् ये परिशीलयन्ति परितः स्वादूनि वस्तून्यहो
आक्रान्तेऽद्य हिमालये रिपुगणैः स्वस्थान् धिगार्योद्भटान् ।।३

रुद्रा जागृत जागृत क्षणमिदं युष्मान् समुत्प्रेक्षते
सैष प्रज्वलनस्य काल इह रे सुप्ता बृहद्भानवः !
शम्पाः सम्प्रति नृत्यताद्य सकलाश्चण्ड्यो रणः कल्प्यतां
दूरात् कोऽपि हिमाद्रितुङ्गशिखरादायाति शङ्खध्वनिः ॥४॥

त्वत्तो भारतपृथ्वि! लब्धजनुषश्चेत् त्वत्कृते त्वय्यमी
प्राप्ताः संविलयं भवेम यदि नः साफल्यमेतावता ।
कश्चिद् दुर्मदचीन एष सततं युद्धार्थमाकारयेत्
सस्नेहे शलभायतां स खलु नो राष्ट्रप्रदीपानले ॥५॥

पञ्चाला द्रविडाश्च जागृत समे बङ्गा विहारोत्कला
रे रे जागृत जागृताथ हि महाराष्ट्राः समे गुर्जराः ।
सद्विन्ध्याश्च हिमालयाश्च यमुने गङ्गे च रे जागृत
स्वाशीर्भिः परिवर्धयध्वमधुना जातं महाभारतम् ॥६॥

गजल-गीतानि

मदीयां प्रीतिमालक्ष्य प्रहेया मय्युपेक्षेयम्
न हेतुर्मे भवेन्मृत्योस्त्वदीया मय्युपेक्षेयम् ।

यदाऽहं त्वद्दृशोः पातं प्रतीक्षे सर्वतो भावात्
तदा ते जायते कस्मादिदानीं मय्युपेक्षेयम् ।

दहत्येषा न मां ज्योत्स्ना तथा चैत्रीषु रात्रीषु
तथा ते मां दहत्यन्तर्निगूढा मय्युपेक्षेयम् ।

स्मृतौ ते जाग्रतो यान्त्येव नित्यं मामका दिवसाः
न जाने कारणात् कस्मात् तवास्ते मय्युपेक्षेयम् ।

इदानीं तीव्रतामासाद्य त्वं हन्त नैराश्य!
प्रवृद्धि काम़पि प्राप्ता नु तस्या मय्युपेक्षेयम् ।

विशालेऽस्मिन् धराधाम्नि क्वचित् कोणे गमिष्यामि
समक्षं स्थातुमेवं ते न दास्यति मय्युपेक्षेयम् ।

निपीय प्रस्थिताः केचित् पिबन्तः सन्त्यमी केचित्
पिपासौ कश्च हेतुर्नैव जाने मय्युपेक्षेयम् ।

क्व सा प्रीतिः सुखालापाः क्व ते सन्तर्पणं मनसः
विधेरधुना विपर्यासात् क्व जाता मय्युपेक्षेयम् ।

कियत्यो यातनाः सोढाः सहे वा जीवने ह्यस्मिन्
न सोढुं शक्यते किन्तु त्वदीया मय्युपेक्षेयम् ।



त्वं मदन्तिके येषु ते हि नो गता दिवसाः
किं प्रतीक्षया तेषा ते हि नो गता दिवसाः ।

किं वसन्त आगन्ता किं कुहूरवो भविता
प्रियजने विदूरस्थे ते हि नो गता दिवसाः ।

प्रीतयः श्रयन्ते नो कमपि बहिरुपाधिमिति
त्वद्वचः श्रुतं येषु ते हि नो गता दिवसाः ।

श्वसिम इत्यहो किं रे जीवनं विनाऽपि त्वाम्
जीवनं च येष्वासीत् ते हि नो गता दिवसाः ।

त्वद्वचः श्रुतं सुखदं त्वन्मधुस्मितं पीतम्
ये च तेऽन्तिके नीतास्ते हि नो गता दिवसाः ।

एष रे विधेर्दोषो नापराध्यति प्रणयः
येष्वयं समुत्पन्नस्ते हि नो गता दिवसाः ।

काऽपि नेत्रयोर्भाषा नूतना तवासीद् रे
येषु शिक्षिताऽस्माभिस्ते हि नो गता दिवसाः ।

त्वं यदाऽऽगता प्रातः त्वं यदा गता सायम्
मत्कृते नु येष्वासीत् ते हि नो गता दिवसाः ।

दुःखमेव दुःखं रे किं वदेम चान्यदिह
येष्वभूत् सुखं किमपि ते हि नो गता दिवसाः ।

मौनमेव धारय रे को हि नो वचः शृणुयात्
येषु नः श्रुतं वचनं ते हि नो गता दिवसाः ।



त्वां विना जगतीह मुग्धे जीवितुं किमु शक्नुयाम्
शक्नुयामपि त्वामहो विस्मर्तुमपि किमु शक्नुयाम् ।

दीप इह न कुतोऽपि मन्ये स्नेह इह न कुतोऽपि रे
विस्तृते तमसीह कथमपि वीक्षितुं किमु शक्नुयाम् ।

रात्रयो यान्ति व्रजन्ति दिनानि गत्या स्वीयया
त्वत्प्रतीक्षापरवशो बत मीलितुं किमु शक्नुयाम् !

त्वं निरन्तरमेव स्मृतिमायासि नो यदि भामिनि !
अन्यदिह ननु वस्त्वहं परिशीलितुं किमु शक्नुयाम् !

केयमुत्पन्ना तृषा मम चेतसस्त्वदवेक्षणात्
प्रणय इति तां त्वत्पुरः परिभाषितुं किमु शक्नुयाम् !

नापि रोषो नाप्युपेक्षा कापि नो विकृतिः परम्
त्वद्गतां स्थितिमात्मना परिचिन्तितुं किमु शक्नुयाम्!

यत् स्वमावृत्येह संसदि वर्तसे पुरतो मम
त्वन्मुखादवगुण्ठनं त्वपवर्जितुं किमु शक्नुयाम् !

मध्यतो रेखेव दत्ता हन्त लोकेनावयोः
प्रेम्णि तामहमुद्वलन्नपि लङ्घितुं किमु शक्नुयाम् !



छिन्नो हि मूलतः प्रणयः किं प्ररोहति
सेको विधीयतामपि चेत् किं प्ररोहति !

तन्त्री हृदः कदाचिदियं भग्नतां गता
कोऽपि स्वरस्ततो वद रे किं प्ररोहति !

हृदयस्थली मरुत्वमुपेता विधेर्वशात्
स्नेहाङ्कुरः कदापि ततः किं प्ररोहति !

पङ्गुर्मेयमाकाङ्क्षा त्वां गिरिस्थिताम्
उपलब्धुमन्ततः शिथिला किं प्ररोहति !

जन्मान्तरस्य सौहृदमथवा भवेन्न वा
रम्यं निरीक्ष्य वस्तु न ततः किं प्ररोहति !

मृत्योः प्रतिक्षणं यदि जार्गति भावना
आशा हि जीवनस्य ततः किं प्ररोहति !

आधारवृक्ष एष न विनिपात्यतां विधे
लतिका सुकोमला तन्मृते किं प्ररोहति!

बुद्धेः प्रभाव एष वरीर्वति सर्वतः
हृदयस्य किं प्रभाव इतः किं प्ररोहति !



कोऽयमिति जन एष रे स्वयमेव सम्परिचीयताम्
अन्यथा विस्मृतिरहो स्मरणेऽपि सत्यभिनीयताम् ।

नैकशो वारं त्वयाऽहमुदीक्षितः परिशीलितः
पूर्वजन्मन एष किं मम परिचयो व्यपनीयताम् !

आश्रये वृक्षे निपतिते स्थातुमर्हति किं लता
स्थातुमेव तथापि कियदवधि त्वयाऽप्यभिनीयताम् !

जीर्णजीर्णं हृदयमन्दिरमेतदधुना मेऽभवत्
तद्गतं तु तमः प्रणयदीपं निधाय विनीयताम् !

का सुखाशा, कैव रे मम चेतसो विकृता स्थितिः
क्षणमरे निजदृष्टिपात इतो जनेऽपि विधीयताम् ।



न केवलेन तव सुस्मितेन बद्धोऽहम्
तवैकदृष्टिनिपातेन हन्त बद्धोऽहम् ।

स्वनीड एकान्ते निद्रितोऽहमासं रे
त्वया शरेण कथं निर्बलोऽपविद्धोऽहम् ।

चलन्निरन्तरमासं स्वलक्ष्यमभि दूरात्
त्वयैत्य मार्ग इतो वात्ययेव रुद्धोऽहम् ।

तवास्य दृष्टिनिपातस्य किं वदेयमहम्
न जीवनेऽपि न मृत्यावपीह सिद्धोऽहम् ।

निरन्तरं ज्वलितस्यास्य का कथा वह्नेः
उदीय बाष्पजलैरेभिरेष दग्धोऽहम् ।

सुखं न सोढुमहं पारये कुतो दुःखम्
श्रुतं न मे किमु रे मुञ्च मां विमुग्धोऽहम् ।



हृदन्तर्वर्तिनं तापं विना त्वां कः समादध्यात्
त्वमेवैका समाधारो विना त्वां कः समादध्यात् ।

समाधानं पिपासाया ममैता नैव रे सरितः
सदानन्दाम्बुसद्वर्षां विना त्वां कः समादध्यात् ।

विलोके साम्प्रतं लोके कुतश्चिन्नैव सन्मित्रम्
ममैकान्तं भरं कान्ते विना त्वां कः समादध्यात् ।

विधेर्वैमुख्यमेतस्यापि जगतो हन्त वैमुख्यम्
समुद्यत्पूर्णसाम्मुख्यां विना त्वां कः समादध्यात् ।

न नैराश्यान्धकारं मे समाधातुं क्षमश्चन्द्रः
स्फुरच्चन्द्राननस्फीतां विना त्वां कः समादध्यात् ।

न सन्तप्तस्य मे मेघा नभःसञ्चारिणः शरणम्
हृदः सन्तापमेकां मे विना त्वां कः समादध्यात् ।



कस्मै समर्प्य हृदि तोषमवाप्नुयां नो
जाने कृतिं, बत तथापि मनस्युदेति ।
येषां नु चित्तमिह नाम रमेत किञ्चित्
सर्वात्मना सुमनसोऽधिकृतास्त एव ।।



यवनिका

(पण्डितराजजगन्नाथस्य प्रणयजीवनप्रसङ्गमेकमवलम्ब्य निर्मिता)

यवनीनयनान्तबाणविद्धं हृदयं वेदनयेव सन्दधानः ।
तरुणः कविरित्यवोचदग्रे शुभदिल्लीनगरीपतेः सभायाम् ॥१॥

मयि ते नितरां दयेति जाने मम याच्ञा सफलाऽपि भाविनी चेत् ।
अथ चेदिह दृष्टिरस्ति यावन्नृप तावत् सकलं निवेदयामि ॥२॥

वलते न मनोऽपि याचकानां यदि दातुर्हृदये न दातुमिच्छा ।
न तदा च करः प्रसार्यते तैरनुभूतेति परिस्थितिः समक्षम् ॥३॥

यदि दित्सति नैव हन्त दाता यदि वा किञ्चिदुपेक्षते स्वदृष्ट्या।
तदनन्तरमर्थिना स्वकीयं करमाकृष्य यतः कुतोऽपि गम्यम् ॥४॥

अथ धृष्टतया न तत्र किञ्चित् करमाकर्षति मौनितां न वैति।
यदि नापसृतिं ततो विधत्ते विफलस्तस्य परिश्रमोऽपि स स्यात् ॥५॥

अत एव महत्त्वमर्थनायामिह ये किञ्चन जानतेऽर्थिनस्ते।
निजदातरि मार्गयन्ति सम्यक् स्वत एवोपगतेऽपि पात्रभावम् ॥६॥

कविरस्मि किमर्थमर्थना मे यदि हस्ते निहिताऽस्ति लेखनीयम्।
न गजालिमहं कदापि याचे न च वा वाजिषु मे कदाचिदाशा ॥७॥

वचसेति न विद्धि भूपते मां यदुदासीन इतो भवे वसामि।
कविभिः कवितैव नो विधेयाऽऽकलनीयः परमेष तैर्हि लोकः ॥८॥

अथ केचन चक्षते विवर्तं जगदेतत्खलु सर्वमीश्वरस्य।
कवयः प्रतिपत्तिमाप्नुवाना विरमन्तीव न तत्र किञ्चिदेते ॥९॥

अथ का विरतिः किमर्थमेषा किमु मुक्तेरयमस्ति कोऽपि मार्गः।
प्रणयेन तदस्य हीनतायां मम नाङ्गीकुरुते कदापि चेतः ॥१०॥

कवयः प्रणयस्य केवलं ते निजकाव्यैरुपदर्शयन्ति मार्गम्।
न ऋते कविवाचमस्ति काचित् सृतिरानन्दमयस्य विष्टपस्य ॥११॥

कलय स्वदृशा किमेतदास्ते परिवृत्तिर्जगतो भवत्यजस्रम्।
किमु लक्ष्यममुष्य का च भाषा भुवि यन्निर्वचनं वदन्ति सर्वे ॥१२॥

दुरितैः परिवारिता भजन्ते बहुदुःखानि कुतः सुखं हि तेषाम् ।
बहवः खलु बुद्धियोगयुक्ता निजमार्गं बहु हन्त मन्वते ते ॥१३॥

अथ ये तिरयन्ति तत्त्वमेतत् स्वपदाग्राहति दूषितस्वभावाः ।
नहि तेषु कवित्वभावनायाः स्फुरणं किञ्चन दृश्यते जनेषु ॥१४॥

द्विविधा गतिरस्ति लक्ष्ययुक्तौ हृदयं बुद्धिरतीव मानवानाम् ।
प्रथमा कुरुते प्रवृत्तिमेवां क्वचिदन्याऽपि सहायतां विधत्ते ॥१५॥

प्रणयस्य पदेषु पार्थिवानां विनिपातो मुकुटस्य दृष्टपूर्वः ।
न विधिर्न च कापि तत्र रीतिः प्रतिरोधे प्रभवत्यमुष्य मन्ये ॥१६

परितोऽपि गवेषयन्ति तारा विधुरास्ते विधुरस्तथैव भानुः ।
न विदन्ति कदापि तं पयोदा विधिनिर्माणमपूर्वमेतदास्ते ॥१७॥

नयने मिलती क्रमेण यूनोस्त्वरितं तावदवाप्नुतः चतुष्ट्वम् ।
प्रणयस्य न यावदेव देवो हृदि मथ्नाति निविश्य किञ्चिदेवम् ॥१८॥

नयनैरुपचीयतेऽयमेको मृदुभावेन परस्परं मिलद्भिः ।
प्रलयेऽपि शिरस्युपागते द्राक् शिथिलो नैव भवत्यमुष्य बन्धः ॥१९॥

परितः स्नपिता कपोलपाली नवरोमाणि किमप्युदञ्चयद्भिः ।
नयनाश्रुजलैः शनैर्वहद्भिः प्रणयस्येति विलोकिता प्रणाली ॥२०॥

मधुरं मधुरं कटाक्षपातात् प्रविधत्ते प्रियमात्मनः समीपम् ।
अथ सोऽपि हरन् कथञ्चिदाप्तान् निजपत्रीमिह दित्सति प्रियायै ॥

न कियन्ति दिनानि वा रजन्यो न कियत्योऽपि गताश्च जागरायाम् ।
करुणेति करोति कामिनीनां प्रणयग्रन्थिमतीव योग्यबन्धाम् ।।२२।।

शिथिला नयनावलोकनश्रीरतिपूर्णैर्मलिनैर्हृदम्बुवर्षैः ।
रजनी रजनी तु तत्र तन्व्या अपि रात्रीयति तेन वासरौघः ।।२३।।

नयनस्य न तेजसः कथञ्चिद् गतिरास्ते वलते हि यत्र सौम्यम् ।
अथ येन तदिङ्गितं स्वदृष्टया प्रणयं वेद स एव भावितात्मा ।।२४।।

किमपह्नुतिरीदृगस्ति योग्या किमयं प्रेमगुणः किमस्ति वाऽन्यत् ।
यदहो तदहो भवेन्न दूये सुखमस्यामपि वर्तते व्यथायाम् ।।२५।।

गुणहीनमिदं न कामनाभिः किमपि स्पृष्टमनुक्षणं नवीनम् ।
प्रणयस्य खलु स्वरूपमेवं तदविच्छिन्नमतीव सूक्ष्मरूपम् ।।२६।।

मरणं यदि चेदिहास्ति यूनां न च तस्मादपि भीतिरूहनीया ।
मरणं घटते न यत्र किञ्चित् प्रणयः शाश्वतजीवनं हि नाम ।।२७।।

न च मां परिपृच्छ कीदृगास्ते प्रणयाध्वेति न वेद्मितत्र किञ्चित् ।
इह केवलमस्मि वेदनां तां हृदयेनैव नियोज्य रुद्धबाष्पः ।।२८।।

प्रणयस्य सदैव वाति वात्या लहरीव त्वमुपैहि वेगतो माम् ।
व्यवहारमधो विधेहि सर्वं कुरु कारां रजसा मिलत्कवाटाम् ।।२९।।

अधिदीपशिखं पतङ्ग एष स्वमहो निक्षिपतीति दृष्टमेतत् ।
कुरुते कथमेष वेत्तुमीहा यदि ते स्वं प्रणये विनिक्षिप त्वम् ।।३०।।

सकलं जगदेव साम्प्रतं मत्प्रतिकूलं प्रतिभाति किन्तु मन्ये ।
प्रणयाध्वनि नैव किञ्चिदित्थं चलितं मामवरोद्धुमर्हतीदम् ।।३१।।

प्रणयाय शपे न किञ्चिदस्मिन् विषये साम्प्रतमालपाम्यसत्यम् ।
सकलं सुखमर्पितं मयेह प्रणयाय व्यथितैरुपासिताय ।।३२।।

प्रणयः परमीदृशः प्रकम्पो न तथा ज्ञापयितुं हि शक्यतेऽसौ ।
हृदयस्य कदापि नैव झंझा न समानेतुमितोऽधरे तु शक्या ।।३३।।

सुखमूलमपेक्षते जनोऽयं परमस्य स्थितिरस्ति दुःखमूले ।
सुमनांसि भवन्ति यत्र वल्ल्यामपि सा शूकशिखामपि प्रसूते ।।३४।।

स्मितमाकलितं न तत्र मन्ये विरहेण क्षपितेऽधरे कदाचित् ।
यदहो ज्वलति प्रदीप एष क्वचिदास्ते न ततः प्रकाशलेशः ।।३५।।

मधुरा अपि सुप्तयो भवन्ति प्रतिमास्तत्र परिस्फुरन्ति साक्षात् ।
क्वचिदेव विलोकिता यदेताः क्वचिदेताश्च परोक्षभावमाप्ताः ।।३६।।

प्रणयो हि यथार्थ एष मार्गो न हि रे काऽपि कपोलकल्पनेयम् ।
प्रणयस्य रहस्यविज्जनोऽस्मिन् परिगण्योऽङ्गुलिषु क्वचिन्मिलेद्वा ।।३७।।

प्रणये यदि नाशमेमि कश्चिन्न हि मे चेतसि कोऽपि हन्त तापः ।
इयमेव कथां प्रकाशमाना कथयिष्यत्यथ दीपिका समाधौ ।।३८।।

करुणावरुणालयोऽपि भाग्ये प्रतिकूले सति निर्दयत्वमेति ।
प्रणयो यदि तत्र किञ्चन स्यात् प्रतिकूलोऽपि जनोऽनुकूल एव ॥३९॥

मथितादमृतादुदीयमानं नवनीतं सितशर्करोपयुक्तम् ।
भवतादपि मूल्यमेयमेतत् प्रणयस्यास्ति न मूल्यमेव भूमौ ॥४०॥

"शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।"
जडवस्तुषु कल्पयन्नहो प्रणयं दीपशिखाकविः प्रशस्यः ॥४१॥

प्रणयेन विनाऽपि जीवनं किं जगदेतत् सकलं वृथा विना तम् ।
इति चेतसि भावनोपरक्ता वयमेते कवयो नवार्थलुब्धाः ॥४२॥

कथयामि बृहत्कथां भवन्तो यदि दत्तश्रवसः स्थिताः सभायाम् ।
वचनं समपेक्षते हि वक्तुः प्रथमं संसदि शृण्वतां स्वमन्तः ॥४३॥

यदि नाम सुकोमलस्वभावा विधिना त्वं विहिताऽसि काऽपि रम्या ।
हृदयं हर हारिणी दृगेषा तव सर्वान् विदधीत मुक्तबन्धान् ॥४४॥

घटते त्वयि कल्मषं न किञ्चिद् बहिरन्तस्त्वमसि प्रकामशुद्धा ।
सफलीकुरुषे विलोकयन्ती स्वदृशा स्नेहमयी जगत् समग्रम् ॥४५॥

विधुरो विधुरस्ति खिन्नखिन्नस्तरणिश्चास्ति तवानुचिन्तनायाम् ।
हिमवान् शिरसोन्नतो न किञ्चिल्लभते दर्शनभाग्यमीदृशस्ते ॥४६॥

न विभूषणकामनाऽस्ति हेम्नां परितोषो न धनेन किञ्चिदस्ति ।
हृदयं परितो निवेद्य नैजं प्रणयं कामयसे हि वारमेकम् ।।४७।।

"अधरे नवपल्लवानुरागो नयने कज्जलमुज्ज्वलं दुकूलम् ।"
त्रयमेव विभूषणं तवास्ते यदितोऽन्यानि तु सन्ति दूषणानि ।।४८।।

प्रिय एव मनः प्रियः शरीरं प्रिय एवाङ्गमहो प्रियश्च सर्वम् ।
इति भावनयैव यापयन्ती त्वमितः सार्थकतां नयस्यनन्तम् ।।४९।।

ग्रहणं नहि वेत्सि दान एव त्वमहो तृप्तिमनुत्तमां बिभर्षि ।
प्रविधाय च सृष्टिमीदृशस्ते सफलोऽभूदिह सोऽपि कुम्भकारः ।।५०।।

अनुदारतमः प्रगल्भबुद्धिर्जन एषोऽतितरामितो वृथा स्यात् ।
क्षणमार्द्रमनोदृगञ्चला त्वं यदि नाऽस्य स्फुरिताऽपि जीवने स्याः ।।५१।।

तव का सृतिरस्ति का च भाषा जगति त्वं किमधीतुमागताऽसि ।
विदितं मम सर्वमीदृशं स्याद् यदि किञ्चिन्मयि ते कटाक्षपातः ।।५२।।

हसता खलु शिक्षितं न किञ्चिन्न च किञ्चिद् रुदताऽपि शिक्षितं रे ।
अपि यत्खलु शिक्षितं मया तत् तव भूत्वैव हि शिक्षितं जगत्याम् ।।५३।।

हृदयादधिकं महार्हवस्तु क्वचिदस्त्येव न तत् त्वदन्तिकेऽस्ति ।
तदितश्च समर्प्य सर्वभावात्त्वमहो कामपि सम्मुदं बिभर्षि ।।५४।।

परिपूरयसे दिशां दश त्वं दधती केवलमेकमात्रभावम् ।
सहितः सविलासदेवयानैर्नितरामप्सरसां श्लथः स पन्थाः ।।५५।।

तव मौनमपूर्वमेव किञ्चित् तव लज्जावरणे निलीयते यत् ।
इह केनचिदेव पीतमेतत् तव लावण्यमलौकिकं यथावत् ।।५६।।

मुदिता क्षणभङ्गुरा करोषि त्रिदिवस्यापि सुखं विगर्हणीयम् ।
कियती मधुराऽसि हन्त यस्यास्तव माधुर्यमितोऽपि नाम्नि मन्ये ।।५७।।

विततं तृणमुद्गतप्ररोहं भुवि यत् पश्य तदेव मत्तमास्ते ।
अथ वा कुसुमं विलोकय त्वं स्फुटतामानयति स्वयौवनं यत् ।।५८।।

अभिधानमिदं हि सुष्ठु लोके नितरां ग्रामभवोऽपि सत्करोति ।
न रवेर्गतिरस्ति यत्र भूमौ कवयस्तत्र निरामयं रमन्ते ।।५९।।

हृदयं निधिरस्ति कल्पनाया यदभिव्यक्तिकला भवत्यपूर्वा ।
अतएव रसानुधाविनोऽर्थाः स्फुरितं शब्दमुपासते कवीनाम् ।।६०।।

स कविः खलु गूढतत्त्वदर्शी भुवने काव्यमसुष्य मान्यमस्ति ।
रसभावविदेव यः समन्तात् परिपोषं कुरुतेऽभिधानशक्त्याः ।।६१।।

भुवने यदि दुर्लभं नरत्वं बत विद्या बहु तत्र दुर्लभाऽऽस्ते ।
अतिदुर्लभमेव सत्कवित्वं भुवि तत्रापि सुदुर्लभैव शक्तिः ।।६२।।

मम नाभिमतं मतं पुराणं कवितायां प्रकटीकृतं यदन्यैः ।
परितः सकलानतोऽतिशेते रसगङ्गाधरनिर्मितिर्मदीया ॥६३॥

रमणीयमलौकिकं सदर्थं हृदि शब्दा वितरन्ति ते कवीनाम् ।
कवितेत्यभिधानमालभन्ते किमितः कश्चिदुपस्थितोऽस्ति दोषः ॥६४॥

हृदयस्य कवेर्विधिर्विधाने सदुपादानतया तमेव भावम् ।
प्रणयाख्यमुपाददाति धन्याः कवयो येषु भवेत् स जन्मसिद्धः ॥६५॥

कविता परमन्यदेव शास्त्रं तदधीतिं मलिनोऽपि कर्तुमर्हः ।
नहि बुद्धिमपेक्षते कलेयं हृदयं केवलमीप्सितं तदेव ॥६६॥

अत एव कवित्वमित्यमीषां सरणिः खल्वियमन्तरायशून्या ।
हृदयं जगते निवेदयन्तः कविरित्यन्तरवाप्नुवन्त्यभिख्याम् ॥६७॥

मृदुता किमु नाम, तिष्ठतीयं क्व तथा तत्र किमेतया प्रभूतम् ।
इति पृच्छ विचित्रवाग्विधानान् नितरामुत्तरयन्ति ते हि दिव्याः ॥६८॥

यवनीमत एव तत्र दिल्लीश्वर ! याचे नवनीतकल्पगात्रीम् ।
अहमर्थयिता स्थितस्त्वदग्रे हृदि विन्यस्य कथञ्चिदीदृगाशाम् ॥६९॥

किमिदं तव देयमस्ति नो वा न च वा प्राप्यमिदं मयाऽस्ति तावत् ।
वचसा किमुदञ्चितेन याचे किमहो दास्यसि नेति निश्चिनोमि ॥७०॥

इदमेव विरुद्धमस्ति यत्सा नृपपुत्री परमस्म्यहं दरिद्रः ।
मम वाससि जीर्णता नितान्तं स्वतनौ सा तु तनोति दिव्यभूषाम् ॥७१॥

शलभदीपशिखम्

तवेदं सौन्दर्यं निरुपममिति प्रीतिकलित-
स्तदाकृष्टः सम्प्रत्यहमुपगतो दूरगहनात् ।
अतिक्षुद्रं केचिच्छलभ इति मामाहुरधिकं
न किञ्चिद् वक्तव्यं तदिह शृणु रे दीपकशिखे ।।१।।

न जाने सौन्दर्यं घटितमणुभिः कैर्नु विधिना
यदन्येषामेतत् सुखदमुपमानं समभवत् ।
त्वयि स्नेहो नाम ज्वलति परितापाय नहि किं
मयि त्वेष क्लेशं कमपि यदसह्यं जनयति ।।२।।

सुदूरादेव त्वामिह तमसि चन्द्रस्य कलिका-
मिवालोक्य प्राप्तोऽपरिचित इतो नैव कलयेः ।
मम त्वां प्रत्येतद् हृदयगतमाकर्षणमहो
ननु स्निग्धं भावं प्रकटयति जन्मान्तरगतम् ।।३।।

न जाने लोकस्य व्यवहृतिमहं क्षुद्रपतग-
स्त्वदीयां नो जाने प्रकृतिमपि किन्तु क्षणमिह ।
किमप्याख्यातुं त्वां हृदि जनित एषोऽद्भुत इवा-
नुरागो मां व्यापारयति बत किं नाम शृणुषे ॥४॥

यदेष स्नेहो वा प्रणय इति वा राग इति वा
मदीये हृत्क्षेत्रे जनित इह तत् त्वामभिगतः ।
समर्प्य स्वं सम्प्रत्यहमिह समग्रेण वपुषा
निलीय त्वय्येष क्षणमथ कृतार्थः प्रभविता ॥५॥

वने जातः क्षुद्रः क्व नु शलभकोऽहं प्रविलस-
त्स्वलावण्योद्दीप्ता क्व बत भवती दीपकलिके ।
मयि त्वामालक्ष्य प्रणयकलितो भाव इह रे
बिभर्ति स्वाभाव्यात् तदपि किमु न त्वं कलयसि ॥६॥

स्फुरन्ती यत्किञ्चिद् विलससि धुनाना निजशिरो
न वा किञ्चिन्मुग्धे वचनमपि मुग्धं वितरसि ।
किमस्वीकारस्य त्वमभिनयमस्मिन् प्रकुरुषे
क्षणे मय्यायाते प्रणयमुपहर्तुं वनभुवः ॥७॥

तवैतन्मौनं मां व्यथयति भवेः किञ्च मुखरा
तव स्नेहो बाह्यः किमु, न मयि कारुण्यमयसे ।
तवोपान्ते प्राप्तोऽतिथिरहमतः स्नेहकलितेऽ-
वहेलां नैवं रे प्रकटय जने भिक्षुक इव ॥८॥

स्वतापस्त्वां नो किं व्यथयसि यदेषा ज्वलसि रे
न तापादत्युग्रा त्वमलमतिरिक्ताऽपि भवसि ।
त्वदीयां नो जाने स्थितिमहमनेन क्षणमपि
स्वतापेन स्थातुं क्वचिदपि न शक्तो यदधुना ॥९॥

परं नेदं दुःखं सुखमपि यतः किञ्चिदिह रे
समर्प्य स्वं सर्वं सुखमनुभविष्याम्यतिशयम् ।
न चान्यत् साफल्यं मम हि जनुषः किन्तु कलये-
स्तवास्य स्नेहस्य प्रतनु विफलत्वं विलसति ॥१०॥

त्वयि प्राप्ते दाहं मम किमुपलब्धं नु भविता
प्रदाहव्यापारे भवति तव का सिद्धिरधुना ।
तथापि स्वाभाव्याद् दहसि पतितं वस्तु सकलं
वयं च स्वाभाव्यात् त्वयि हि विसृजामो निजतनुम् ॥११॥

मम स्नेहं मन्ये परिणतमिवानेकजलधि-
स्वरूपे संक्षुब्धे स्वलघुहृदये साम्प्रतमहम् ।
समाघातास्तेषां हृदि शतशतं जाग्रति मुहु-
र्बभूवेवाभारः क्षणमपि ततो जीवनमिदम् ॥१२॥

न यस्मिन् किञ्चिद् वा प्रणय उदितस्तन्न हृदयं
भवेद् वा पाषाणस्तदिह कठिनं वज्रमथ वा ।
मयेदं सुस्निग्धं हृदयमुदितानन्यमनसा
प्रदत्तं तुभ्यं रे कथमपि तदङ्गीकुरु न वा ॥१३॥

कियान् न स्नेहो मे हृदि तव कृते संवलति रे
प्रवेशं कृत्वैवाकलयितुमयं शक्यत इतः ।
न चन्द्रो वा कश्चिज्जगति खलु तत्पात्रमुचित-
स्त्वमेवासि त्वं रे मयि कुरु दृशं दीपकलिके ।।१४।।

न च द्वित्वं नाम स्फुरति हृदये स्नेहकलिते
समो भावः कश्चिद् वलति शिवसङ्कल्पसुरभिः ।
त्वमेवेका यस्याः कृत इदमुपेतं वपुरहं
समर्प्य स्वं कर्तुं सफलमिह वाञ्छामि सुभगे ।।१५।।

अभिन्नः सौभाग्ये सति मिलति नान्येन विधिना
क्षणं नाम स्नेहस्तदिह बहु रे जीवनफलम् ।
कुतो रोधः काचादिह मिलनविघ्नं जनयति
त्वमेवाध्वानं मे दिश कथमुपायामि विकलः ।।१६।।

प्रकाशैनिर्माणं तव हि वपुषः सुन्दरमभू-
त्तथा न च्छायाऽपि स्पृशति किमपि त्वां निजकरैः ।
त्वमेका सर्वषां प्रणयिहृदयानामसि निधि-
र्निवासः कारायां तव कथमभूत् केन विहितः ।।१७।।

अनन्ता निःश्वासा मम तव कृते सन्ति परमाः !
इमे यान्तु स्निग्धास्तव चरणयोः केन विधिना ।
रहस्यं कालेऽस्मिन् प्रकटय निजं येन झटिति
त्वदन्ते प्राप्तः स्यां त्वयि च मिलितः स्यां बहुमते ।।१८।।

परावृत्तिः स्यान्मे कथमपि पुनर्नैव गहने
न वैफल्यं सोढुं प्रभवति ननु क्षुद्रशलभः ।
न भूयो भूयो वा क्रियत इत रागः क्व समयो
विलम्बोऽसह्यो मे त्वमपि किमु जाताऽसि कठिना ।।१९।।

त्वयि स्नेहोद्भ्रान्तो न हि जगति खल्वेक उदितः
सहस्रं सन्त्येवं बत शलभकास्त्वत्प्रणयिनः ।
तदेवं सौभाग्यं न खलु सकलस्यैव भवति
स्वगन्तव्यं लोके क्वचिदपि न सर्वस्य सुलभम् ।।२०।।

उपेक्षां नो कुर्या अपरिचित इत्येव मयि रे
यथाऽऽधारः स्नेहस्तव स हि तथा मेऽपि नियतिः ।
समा नावाकूतिः सम इह च धर्मः प्रकृतयः
समानाः किं जाता विरमति कुतोऽपि प्रणयिता ।।२१।।

महीयस्येका त्वं जगति तमसश्छेदनकरी
लघीयस्यां जाताविह जनित एषोऽस्मि शलभः ।
विभेदं मा मंस्थाः प्रणयमयि रे दीपकशिखेऽ-
न्यथा रीतिश्छिन्ना भवति युगमान्या प्रणयिनाम् ।।२२।।

निराशो भूत्वाऽहं कथमपि परावृत्त इह चेत्
तवैष स्याद् दोषो नहि मम गतस्य प्रणयिनः ।
न कुर्वन्ति द्वारि स्थितमतिथिमेकान्तविमुखं
कदाचित् स्निग्धं तु क्षणमपि न मुञ्चन्ति सुधियः ।।२३।।

क एवं काचो मां व्यथयति च रोधं प्रकुरुते
न मध्ये प्राकारस्तव मम च शोभेत कठिनः ।
अरे मृत्युं याचे मम हृदि न वा जीवनतृषा
परित्याज्या चैषा त्वरितमथ कारानिवसतिः ॥२४॥

नभोदेशे सूर्यस्तपति दिवसेऽधिक्षपमसौ
शशी नक्षत्राणि स्फुरणमथवैवं विदधति ।
न तैर्मे क्षुद्रस्य क्वचिदपि च संग्राह्यमथ वा
न देयं, सर्वस्वं मम तु भुवि मान्या त्वमसि रे ॥२५॥

त्वदीया का भाषा नवसरससङ्गीतकमयी
श्टणोस्म्येष क्षीणामिव निपतितां कर्णकुहरे ।
तवेदं रूपं रे मम हृदयसद्भावजनकं
किमुर्वश्याः स्वर्गात् पतितमिव शुद्धस्मितमसि ॥२६॥

न मे दौर्बल्यं रे यदिदमलमाकर्षणमहो
विशेषेण प्रीतिर्जडमपि नयेद् गौरवपदम् ।
वयं नाम क्षुद्रा अपि शलभका हन्त न जडा
जडत्वं त्वय्येव स्फुरति, न यदुत्पश्यसि पुरः ॥२७॥

इदानीं काचो यत्तव मम च विच्छेदमुभयो-
र्विधत्तो सौभाग्यं किमथ मम दौर्भाग्यमुदितम् ।
अरे सौन्दर्यं ते बहु बहु विलोके नवनवं
स्वयं पौनःपुन्याद् भवति मिलनेच्छा विघटते ॥२८॥

विरुध्यैवं काच ! त्वमिह परितो निर्दहसि मां
प्रदीपज्वालायां पतनमपि मे कारयसि यत् ।
मदीयेयं जाता प्रणयविधिना दीपकशिखाऽ-
हमस्याश्च त्वं को भवसि ननु मध्ये निपतितः ॥२९॥

सुखावासो लब्धः सुरभिभरिते राजभवने
सुरक्षा यत्काचावरणजनिता ते समभवत् ।
स्वसौन्दर्यस्यैतत् फलमिति न किं हन्त मनुषे
मदीयः स्नेहोऽपि क्वचिदिह तव स्यादभिमतः ॥३०॥

निजस्नेहित्वस्य क्वचन तव गर्वं न भवतु
क्षणं पश्येः स्नेहं मम पुनरुपेतस्य गहनात् ।
मदीयप्राणानां परममिह साफल्यमथवा
हुतत्वं त्वय्येव स्फुरितनवसौन्दर्यभरिते ! ॥३१॥

न चेष्टे स्वर्भोगं न च हृदयपीडैव सुखदा
तवोत्सङ्गे मृत्योः परमपदमेवं न कलये ।
अरे त्वत्सौन्दर्यप्रणयपरिपूर्णः क्षणमपि
स्वयं प्रीत्याऽऽलिङ्ग्य प्रणयिनि नु सम्भावय दृशा ॥३२॥



स्वयं काचश्छिन्नो हृदयमिव दीपस्य स ततो
व्यधाज्जन्तुर्देहं स्वमनलगतं तत्क्षणमहो ।
ननु प्रीतेरित्थं घटनमधुना केऽपि कवयः
सदोदाहृत्य स्वानिह सफलयन्तीव कठिनीम् ॥३३॥

———

रुबाई-गीतानि

सन्मित्र कथं नाम वर्तसे दूरे
त्यक्त्वा तटमायाहि तटिन्याः पूरे
व्यर्थस्तवैष आत्मरक्षणोपायो
गणितो भवेस्त्वमद्य पण्डिते शूरे ।।१।।

बाह्येषु हि दृश्येषु न रमते चेतः,
अहमेष कुतो मित्र जनेष्वानीतः,
एकान्त इतः कोऽपि कलं गायति रे
गच्छाव ततः साम्प्रतं सुदूरेऽतः ।।२।।

सौदामिनि ! मेघेषु दृश्यसे स्फुरिता
नित्यं स्फुर लोकस्य रे भवाभिमता,
सम्प्रार्थयेऽस्य पक्षिशावकस्य तथा
चेष्टस्व, शमं यातु चित्तचञ्चलता ॥३॥

सहसा न तथा व्योम्नि घना गर्जन्ति
वृक्षा न लता हन्त वृथा तर्जन्ति,
सौदामिनि ! नैवं परिस्फुरेः सततं
नीडेषु शयाना हि खगा मूर्च्छन्ति ॥४॥

हृदये शरेण पृच्छ व्यथां विद्धस्य
क्रौञ्चस्य पक्षिणोऽथवाऽस्तु गृध्रस्य,
करुणैव नास्ति चेन्न कथां श्रावय रे
कस्यापि मुनेरस्तु, वाऽस्तु सिद्धस्य ॥५॥

उद्यानमर्थवन्न केवलं कुसुमैः,
नाप्येमर्थवच्च केवलं सुपिकैः,
उपयोगिनो भवन्ति कण्टका अपि रे
सिद्ध्यन्त्यभीप्सितानि किं न वा काकैः ! ॥६॥

स स्याद् भारतदेशजो बुधवरो नेपालजो वा भवेत्
किंवा फ्रांसभवस्तथाऽऽङ्लजनितः किंवा द्विजो वाऽन्त्यजः ।
नैव स्तोतुमितो वयं स्ववचनैर्भाग्यं तदीयं क्षमा
यस्यान्तर्हृदि कालिदासकविताभावाम्बुदो वर्षति ॥

विघ्नानोकहपाटनाय महती धारा कुठारस्य या
नैराश्यान्धविमोचनाय वितता या शारदी चन्द्रिका ।
भक्तानां सदभीष्टसाधनविधौ या सिद्धिकल्पद्रुमा
सा वः पातु दया निरादृतभया सर्वत्र लाम्बोदरी ॥

साम्मुख्यस्मयमानमुग्धवदना भक्तेषु सेवागते-
ष्वङ्कानीतविनायका सकरुणा स्रग्भारसम्भूषिता ।
सुस्निग्धा सकलस्य सा गिरिसुता गोदाजलार्द्राम्बरा
देवत्र्यम्बकराजराजमहिषी दिश्यादुमा मङ्गलम् ॥

स्खलनमिति मनुष्यधर्म एष
स्खलति मुहुर्मुहुरुद्गतः प्रयाति ।
इह जगति करावलम्बदानैः
कतिपय एव भवन्त्यहो सहायाः ॥

शुद्धिपत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	३	श्रवया	श्रवणा
५	१३	विषमाषु	विषमासु
१५	७	इदमेव	इममेव
२३	४	यान्यमी	यान्त्यमी
२३	५	°पदिश्यसि	°पदेक्ष्यसि
५४	८	च्चेन्नो	चेन्नो
५५	४	व्यङ्ग्य	व्यङ्ग्य
५५	८	जागती	जागतीं
५६	११	दीपकं	दीपकं—
६२	१८	च्चिते	च्चित्ते
७०	१२	सायङ्कालो	सायङ्कालः
७२	३	°कृताम्यास°	°कृताभ्यास°
७२	६	एक	एका
७३	८	कैंश्चित्	कैश्चित्
७८	१४	तेषा	तेषां

———

